

## MUMUKHUS OF NORTH AMERICA

dedicated to

"Carry on Kundkund - Kahan Tatvagyan to the End of Fifth Aara" by using Modern Technology.

### CURRENT ACTIVITIES

- ➔ Adult Education
- ➔ Young Adult Education (YJPe, YJPe, YJPe)
- ➔ Children Education ( Pathshala 608 )
- ➔ Celebration of All Auspicious Occasions
- ➔ Bhubr-Bangoshi Planning
- ➔ Bamsoch Poojan, Pratikraman & Dharmacharcha

### PLANNED ACTIVITIES

- ➔ A new website "ourgurukahan.com" to act as a "gateway to all Kundkund - Kahan related websites"
- ➔ "GYAN" - Global Young Association of Jains to unite young mumukshus between the ages of 16 to 60 years
- ➔ Formation of " 'संशिक्षण सारांश सहित' " New Volunteers having access to Internet are most welcome !

### CONTACT

email : webmaster@jainism.us  
website : www.jainism.us

# गुरु-चिंतन



पूज्य गुरुदेवशी के नित्यक्रम के

**गुरु बोध**

(संक्षिप्त सारांश सहित)

प्रस्तुतिकरण

मुमुक्षुदा ऑफ नार्थ अमेरिका (मोना)

## श्री सद्युक्तेवनी स्तुति

( इतिगीत )

संसार सागर तारवा जिनवाणी छ नौका लली,  
ज्ञानी सुकनी भाषा विना, ओ नाव पुरा तारे नही,  
आ कणमां शुद्धात्म ज्ञानी सुकनी बहुभुङ्ग टिहाली,  
भुज पुरा शशि कण्यो अशे ! गुरे कृष्ण तं नाविड भाष्यो.

( अनुष्टुप )

अशे, लकत विहात्माना, सीमाधर-वीर-कुंठना,  
भाहातरविभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुना.

( शिवाशिणी )

सदा दृष्टि तारी विमण निज शैतन्य नीरणे,  
अने शक्ति मांही दशव-गुण-पर्याय विदसो,  
निजावधी सावे परिणित स्वश्रेष्ठ श्रद्धिभाण,  
निमित्तो वहेवाशे विदधन विषे कर्षि न भण.

( शार्ङ्गावक्रीडित )

हेतुं सतसत, ज्ञान-ज्ञान धाडडे ने वज्रवाणी छुटे,  
जे वजे सुमुमुक्षु सत्य ऋण्डे, परदव्य नातो तूटे,  
शण्णद्वेष दूयो न, जेप न वणे सावैदिमां-अंशमां,  
टंशिकीणे अर्कप ज्ञानमाहिमा कटये रहे सवैटा.

( वसंततिवक्र )

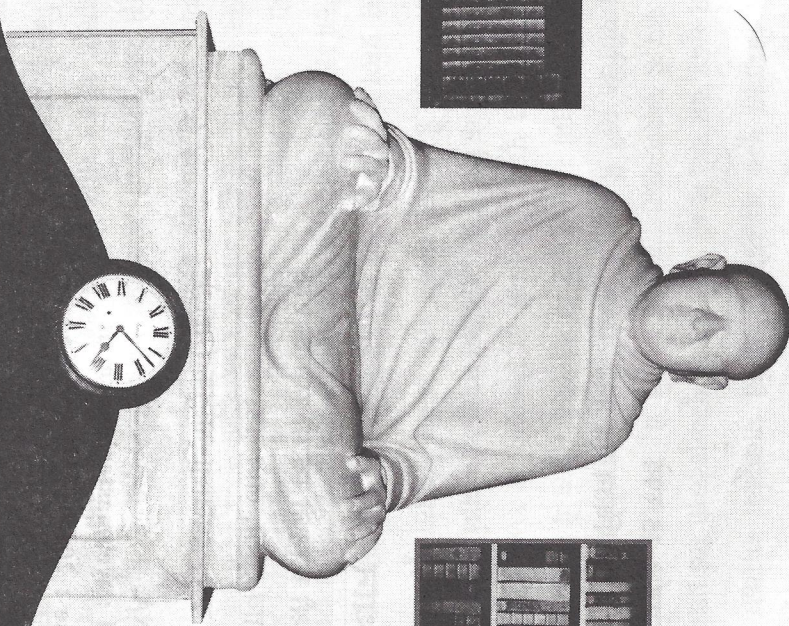
नित्ये सुधाऋण्यं यद्रा ! तने नमं हुं,  
कश्यप आकारण्य समुद्र ! तने नमं हुं,  
हे ज्ञान पोषक सुमेध ! तने नमं हुं,  
आ दसना ज्ञान शिवा ! तने नमं हुं.

( अष्टाध्याय )

गडा गडी, गडशी सुभनिधि सतना वायु नित्ये वंही,  
वाणी चिन्मूर्ति ! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म सावे लसेदी,  
सावे गडा विशाशी, अभिनव माहिमा चिन्मां धावीदावी,  
पोषवुं रत्न पामुं, - मनश्च मननो, पूरुशे शक्तिशाणी !

- रचयिता : पं. श्री हिमतदास जेठदास शाह

# गुरु-चिंतन



पूज्य गुरुदेवशी के नित्यक्रम के

१०५ वैन

(स्त्रीक्षिप्त सासंश साहित्य)

प्रवृत्तिकरण

मुमुक्षुदा आप नाथ अमेरिका (मोना)

प्रथम संस्करण : 1000 प्रति

फाल्गुन अष्टाहिका के पावन अवसर पर  
(दिनांक 20 मार्च से 27 मार्च 2013 तक)

## मंगल-भावना

शासननायक श्री परमपूज्य महावीरस्वामी से लेकर श्री कुन्दकुन्द आदि आचार्यों द्वारा प्रणीत शाश्वत सुख के मार्ग के वर्तमानकालीन उद्घाटक सम्यग्दर्शन युगप्रवर्तक पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी को एवं तद्मार्गानुसारी स्वानुभूति विभूषित पूज्य बहनश्री को अत्यंत भावपूर्वक नमस्कार ।

हर सुबह चार बजे से भी पहले उठकर पूज्यगुरुदेवश्री सर्व प्रथम जिनका नियमित रूप से स्मरण-स्वाध्याय-चिंतन करते थे, उन १७५ बोलों से बहुत मुमुक्षुगण परिचित नहीं हैं, अतः अगली फाल्गुन अष्टाहिका के अवसर पर पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट के देवलाली संकुल में होनेवाले विधान-पूजन के साथ-साथ पूज्य “गुरुदेवश्री के नित्यक्रम के १७५ बोल” – इस विषय पर आठ दिन के शिविर का आयोजन मुमुक्षु ओफ नोर्थ अमेरीका (मोना) द्वारा होने जा रहा है – यह सुनकर मुझे अत्यंत प्रसन्नता हुई है ।

इस प्रसंग पर शिविरार्थियों के लिये तैयार की गयी इस लघु पुस्तिका में इन बोलों का विशिष्ट विद्वानों द्वारा लिखित संक्षिप्त सारांश सहित संकलन किया गया है । मुझे आशा है कि देश-विदेश में बसते सभी मुमुक्षु भाई-बहनें इस संकलन से लाभान्वित होंगे और इन १७५ बोलों को अपने दैनिक नित्यक्रम में आवश्यक रूप से समाविष्ट करेंगे ।

मुझे यह बताते भी अत्यधिक प्रसन्नता हो रही है कि मंगलायतन विश्वविद्यालय में इस साल से नये दर्शन-विज्ञान विभाग की स्थापना की गयी है, जिसके अंतर्गत ‘मोना’ के सुझाव के अनुसार जैनदर्शन का शिक्षण देश-विदेश में बसते छात्रों को पत्र-व्यवहार के माध्यम से देने के लिये आवश्यक तैयारियाँ चल रही हैं ।

“दृष्टि का विषय और भेदज्ञान की प्रयोगविधि” – इस विषय पर गत साल में आयोजित किये गये शिविर जैसे ही ‘मोना’ का यह दूसरा प्रयास भी कुन्दकुन्द कहान तत्वावधान में एक नया सिमाचिन्ह बनें और दुनियाभर के मुमुक्षु एक ‘अखिल विश्व मुमुक्षु परिवार’ के रूप में संगठित, होकर कार्यान्वित हों – ऐसा ‘मोना’ का स्वप्न शीघ्र साकार बनें – ऐसी मंगल भावना भाता हूँ। – पवनकुमार जैन, तीर्थधाम मंगलायतन, अत्मीगढ

## प्राप्ति स्थान

१. पूज्य श्री कानजी स्वामी स्मारक ट्रस्ट  
वेतलागांव रास्ता, लाम रोड,  
कहान नगर, देवलाली-नासिक (महा.)

२. MONA,  
email : webmasterjainism.us  
Phone : 201-9142894 (USA)

Printed by :  
Jain computers, Jaipur.  
email- jaincomputers74@gmail.com  
email- jaincomputers74@yahoo.co.in  
Mob. 094147 17816, 09571846506.

## अशो (गाथ)।

नभुं इं दीर्धानाथकने, नभुंओभकार नादने,  
ओभकार संधर्यां जेपे, नभुं ते इंइइइने;  
अशो उपकार जिनवरनी, इंइनी ध्वनि दिव्यनी,  
जिन-इंइ-ध्वनि आथां, अशो! ते गुरे कशननी.

आपणा सौना धर्मापिता अध्यात्मयाग्यथा पूज्य गुरेदेवश्री कनकेश्वरामी दर  
रोज वहेली सगरे जेनुं चिंतन-भजन आदश्य करता इता ते १७५ बोलीनुं संकलन संक्षिप्त  
सारांश साधे आ पुस्तकाश्ये भुमक्षु समाज समाक्ष प्रस्तुत करता अमे अशो(गाथानी छात्राणी  
अनुसंधीओ छीओ.

पांथेय भंडोभां वसता पूज्य गुरेदेवश्रीना अनुयायी भुमक्षु गाठ-धरनेो साधे  
जोडधने ओके 'अधिवि विश्व भुमक्षु परिवार' अने तथा इंइइइ कशन तत्त्वज्ञाननी  
प्रथार-प्रथार सन्निहितश्ये पंचम कणना अंत सुधी थतो रहे, ओ (साधनाथी 'मोना'नी  
अनेकविध प्रवृत्तियो भुष्यत्ये देवीशेन अने कम्प्युटरना माध्यमथी (सारतना अध्या दरस्टे,  
मंडणी, विद्यालयो तथा विद्वानोना सुंदर संकलनपूर्वक भूषे ज अकिशपणे याती रही छे,  
तेभज रेडेक वर्षे वधु वेगवती अनीली जय छे ओ आनंदनी विषय छे.

आ प्रसंगे पूज्य श्री कनकेश्वरामी स्मारक दरस्टे, देवळादीना दरस्टेओनी, कालुन  
अध्यानिका विधान-पूजनना प्रयोश्च सारदीयेन बोधीन(गाठ) (गाथाणी-अभेरीका परिवारनी,  
आ पुस्तकना संकलनभां कणो आपनार तथा शिबिरभां साठ दिनार विद्वत्गणनी, सर्व  
शिबिराथीओनी अने अभने आ कथेभां अनेक प्रकारनी मदद करनार अध्या (गाठ)-धरनेोनी  
अमे शर्टिक आभार मानीओ छीओ.

सर्व भुमक्षुजनेो आ १७५ बोलीने यथाशपणे समजने, तेना मध्यभिंदुश्ये पूज्य  
गुरेदेवश्री प्रहित त्रिकुणी धुव (गठान आत्मानो साधो अने पाओ निर्णय करीने अति  
शीघ्र तेनी अनुसूचिने प्राप्त थायो, ओ ज आदर्यना!

- भुमक्षु ओके नीर्थ अभेरीका (मोना)ना स्वयंसेवकी

## विषयानुक्रमिका



1. श्री समयसारजी गाथा १ से १६	6
2. श्री समयसारजी गाथा १ से १६ का संक्षिप्त सारांश	8
3. श्री समयसारजी - ४७ शक्तियाँ	19
4. श्री प्रवचनसारजी - ४७ नय	27
5. श्री प्रवचनसारजी-अलिंगग्रहण के २० बोल	61
6. श्री समयसारजी - अव्यक्त के ६ बोल	66
7. श्रीमद् राजचंद्रजी के १० बोल	72
8. चौबीस तीर्थकर स्तवन	74
9. पंच-बालयति वन्दना	76



ભાષા અનાર્થ વિના ન સમજાવી શકાય અનાર્થને,  
વ્યવહાર વિણ પરમાર્થનો ઉપદેશ એમ અશક્ય છે.  
શુભથી ખરે જે શુદ્ધ કેવળ જાણતો આ આત્મને;  
લોકપ્રદીપક્યા અધિ શુભકેવળી તેને કહે.

૯.

શુભજ્ઞાન સૌ જાણે, જિતો શુભકેવળી તેને કહે,  
સૌ જ્ઞાન આત્મા હોઈને શુભકેવળી તેથી ઠરે.

10.

વ્યવહારનય અભૂતાર્થ દર્શિત, શુદ્ધનય ભૂતાર્થ છે,  
ભૂતાર્થને આશ્રિત જીવ સુદષ્ટિ નિષ્કાય હોય છે.

11.

દેખે પરમ જે ભાવ તેને શુદ્ધનય જ્ઞાતવ્ય છે,  
અપરમ ભાવે ક્ષિતને વ્યવહારનો ઉપદેશ છે.

12.

ભૂતાર્થથી જાણેલ જીવ, અજીવ, વળી પુણ્ય, પાપ ને;  
આસરવ, સંવર, નિર્જેશ, બંધ, મોક્ષ તે સમ્યક્ત્વ છે.

13.

અબદ્ધસ્પષ્ટ, અનન્ય ને જે નિયત દેખે આત્મને,  
અવિશેષ, અણસંયુક્ત, તેને શુદ્ધનય તું જાણજે.

14

તે દ્રવ્ય તેમ જ ભાવ જિનશાસ્ત્રન સ્વકલ દેખે ખરે.  
દર્શન, વળી નિત જ્ઞાન ને ચારિત્ર સાધુ સેવવાં;

15.

પણ એ ત્રણે આત્મા જ કેવળ જાણ નિષ્કાયદષ્ટિમાં.

15

## 1. શ્રી સમયસારજી ગાથા 1 થી 15

(હરિગીત)

પ્રવ અચલ ને અનુપમ ગતિ પામેલ સર્વે ક્ષિદ્ધને  
વંદી કહું શુભકેવળીભાષિત આ સમયપ્રાપ્ત ગણે!

1.

જીવ ચારિત-દર્શન-જ્ઞાનસ્થિત સ્વસમય નિષ્કાય જાણવો;  
સ્થિત કર્મપુદ્ગલના પ્રદેશે પરસમય જીવ જાણવો.

2.

એકત્વનિશ્ચય-ગત સમય સર્વેય સુદર લોકમાં  
તેથી બને વિભવાદિની બંધનકથા એકત્વમાં.

3.

શુભ-પરિચિત-અનુભૂત સર્વને કામભોગબંધનની કથા;  
પરથી જુદા એકત્વની ઉપલબ્ધિ કેવળ સુલભ ના.

૪.

દર્શાવું એક વિભક્ત એ, આત્માતણા નિજ વિભવથી;  
દર્શાવું તો કરજો પ્રમાણ, ન દોષ ગ્રહ સ્ખલના યદિ.

૫.

નથી અપ્રમત કે પ્રમત નથી જે એક જ્ઞાયક ભાવ છે,  
એ સીત “શુદ્ધ” કથાય, ને જે જ્ઞાત તે તો તે જ છે.

૬.

ચારિત્ર, દર્શન, જ્ઞાન પણ વ્યવહાર-કથને જ્ઞાનીને;  
ચારિત્ર નહિ, દર્શન નહી, નહિ જ્ઞાન, જ્ઞાયક શુદ્ધ છે.

૭.

## 2. श्री समयसारजी गाथा १ से १६ का संक्षिप्त सारांश

### गाथा-१

(१) इस मंगलाचरणरूप गाथा में सूत्रकार कुन्दकुन्दाचार्य देव ने ध्रुव, अचल तथा अनुपम दशा को प्राप्त समस्त सिद्ध भगवन्तो को नमस्कार किया है तथा 'समयप्राभृत' को कहने की प्रतिज्ञा की है।

(२) समयसार के आद्य टीकाकार अमृतचन्द्राचार्य ने सिद्धों के तीनों विशेषणों की व्याख्या इसप्रकार की है।

(अ) पंचमगति या सिद्धदशा ध्रुव है, क्योंकि वह ध्रुवस्वभाव के अवलम्बन से उत्पन्न होने से ध्रुवपने को प्राप्त हुई है।

(ब) राग-द्वेष-मोह रूप परभावों के निमित्त से चतुर्गति परिभ्रमण होता था और सचलपना रहता था। अब सिद्धदशा परभावों की विश्रांति (अभाव) होने से चतुर्गति परिभ्रमण मिट जाने के कारण अचलपने को प्राप्त हुई है।

(क) धर्म-अर्थ और काम ये त्रिवर्ग हैं, मोक्ष या सिद्धदशा इन तीनों से भिन्न होने के कारण अपवर्ग संज्ञा वाली है तथा जगत में समस्त उपाया योग्य (उपमान) पदार्थों से भिन्न होने के कारण अनुपमपने को प्राप्त है।

(३) वे सिद्ध भगवान साध्य निजात्मा के कारण है अर्थात् संसारी भव्यजीव सिद्धों के समान अपने स्वरूप को ध्याकर सिद्ध हो जाते हैं।

(४) ऐसे सिद्ध भगवन्तों को अपने आत्मा में तथा पर के आत्मा में स्थापित करके स्व तथा पर के अनादि-मोह का नाश करने के लिए समय या आत्मा को प्रकाशित करने वाले अर्हन्त

प्रावचन के अंशरूप जो प्राभृत हैं, उनका परिभाषण करते हैं।

(५) वह प्राभृत प्रामाणिक है, क्योंकि वह सर्वज्ञ केवली भगवान द्वारा प्रणीत है तथा केवलियों के निकटवर्ती साक्षात् सुनने तथा स्वयं अनुभव करने वाले गणधर द्वारा कथित है।

(६) सर्व सिद्धों की वन्दना करने का आशय यह है कि सिद्ध अनन्त हुए हैं। अनादि-अनन्त एक परमात्मा या सिद्ध नहीं है। अतः यह मान्यता ठीक नहीं है कि ईश्वर एक ही है तथा वह अनादि-अनन्त है।

(७) इस ग्रन्थ में शुद्धात्मा का स्वरूप अभिधेय अर्थात् कथन योग्य है, शुद्धात्मा वाच्य है और उसके निरूपण करने वाले शब्द वाचक हैं तथा शुद्धात्मा के स्वरूप की प्राप्ति होना प्रयोजन है। इस तरह अभिधेय, वाच्य-वाचक संबंध तथा प्रयोजन का निरूपण किया गया है।

(८) आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार की आत्मख्याति टीका में 'परिभाषा शैली' का प्रयोग किया है। जो अधिकार को अर्थ द्वारा यथास्थान सूचित करें उसे परिभाषा शैली कहते हैं। परन्तु जयसेनाचार्य ने समयसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में 'पदखण्डना' शैली का प्रयोग किया है। गाथा सूत्र में आये हुए जो पद या शब्द हैं, उनकी व्याख्या क्रमशः करना पदखण्डना शैली है।

### गाथा-२

(९) गाथा २ में स्वसमय और परसमय का स्वरूप कहा है। वहां दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय आत्मस्वभाव में स्थित आत्मा स्वसमय है और पुद्गल कर्मों के प्रदेशों में स्थित आत्मा को परसमय है - ऐसा जानो।

(१०) 'समय' शब्द का अर्थ- सम् + अय = समय या सम् अर्थात् युगपत् एकसाथ तथा अय् अर्थात् गमन करना या परिणमन करना तथा ज्ञान करना। इस तरह जो एक साथ परिणमन करे तथा जाने उसे समय कहा है। ऐसा स्वरूप जीव का ही है, अतः जीव को 'समय' कहते हैं।

(११) जीव पदार्थ हमेशा परिणमन स्वभाव में विद्यमान रहता है, अतः वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकतारूप अनुभूति लक्षण रूप सत्ता वाला है।

(१२) इस परिभाषा में जीव को सत्तावान कहा है, उससे जीव का सर्वथा अभाव मानने वाले नास्तिक मत का तथा जीव को सर्वथा अनित्य माननेवाले बौद्धमत का निराकरण हुआ है। साथ ही उसे परिणामी या उत्पाद-व्यय वाला भी कहा है उससे सर्वथा अपरिणामी माननेवाले सांख्यमत का तथा सर्वथा नित्य माननेवाले नैयायिक एवं वैशेषिक मत का निराकरण हुआ है।

(१३) जीव को चैतन्यस्वरूप, नित्य, उद्योतरूप, स्पष्ट दर्शन-ज्ञान ज्योतिस्वरूप कहा है, उससे जीव को ज्ञानाकार स्वरूप न माननेवाले सांख्यमतवालों का निराकरण हुआ है।

(१४) इसी तरह जीव को अनन्तधर्मों में रहने वाला एक धर्मी द्रव्य कहा है, उससे वस्तु को अनेक धर्मों से रहित मानने वाले बौद्धमतियों का निराकरण हुआ है।

(१५) द्रव्य को अपनी क्रमवर्ती पर्यायों तथा अक्रमवर्ती गुणों में प्रवर्तन करनेवाला सिद्ध किया है। उससे आत्मा को सर्वथा निर्गुण माननेवाले सांख्यमत का निराकरण हुआ है।

(१६) जीव अपने तथा पर के आकारों को प्रकाशित करने

की सामर्थ्य वाला होने से समस्त रूपों को प्रकाशित करने वाली एकता को प्राप्त है। इस विशेषण से ज्ञान अपने को ही जानता है ऐसा मानने वालों का निराकरण हुआ है। इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञान कर्थाचित् एकाकार (अमेचक) है तथा कर्थाचित् अनेकाकार (मेचक) है।

(१७) वह जीव अन्य द्रव्यों अर्थात् धर्म-अधर्म-आकाश-काल-पुद्गल से भिन्न कहा है, इससे जगत में एक ब्रह्मवस्तु को ही मानने वाले ब्रह्मवादि्यों का भी खण्डन हुआ है।

(१८) जीवद्रव्य का अन्य का अन्य द्रव्यों के साथ एक क्षेत्रावाग्राह संबंध होने पर भी वह जीव पदार्थ अपने टंकोत्कीर्ण चैतन्य स्वभावरूप ही रहता है। परद्रव्यरूप नहीं होता है।

(१९) जब यह जीव सर्व पदार्थों के प्रकाशक केवलज्ञान को उत्पन्न करने वाली भेदज्ञान ज्योति का उदय होने पर सर्व परद्रव्य से छूट कर अपने दर्शन-ज्ञान स्वभाव में लीन होता है, तब वह 'स्वसमय' होता है।

(२०) जब वह अनादि मोहोदयानुसार प्रवृत्ति करता है तब दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य से छूट कर मोहरागादिरूप परिणमन करता हुआ प्रदेशों में स्थित होने से 'परसमय' रहता है।

इसप्रकार जीव पदार्थ के स्वसमय परसमय रूप द्विविधता प्रकट होती है।

### गाथा-३

(२१) यहाँ 'समय' शब्द का अर्थ सभी पदार्थ हैं, क्योंकि 'समय' शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ 'समयते' अर्थात् एकत्वरूप से गुण पर्यायों को प्राप्त होकर परिणमन करे, वह समय है। सभी द्रव्य अपने

गुण-पर्यायों में परिणमते हैं, अतः इन्हों जाति के द्रव्य समय हैं।

(२२) यद्यपि इन्हों द्रव्य एकक्षेत्रावागारूप से रहते हैं, तथापि अपने स्वरूप को नहीं छोड़ते। सभी पदार्थ अपने-अपने स्वभाव में स्थित होने से ही सुन्दरता पाते हैं। अतः वास्तव में वस्तु का एकत्व ही सर्वत्र सुन्दर होता है।

### गाथा-४

(२३) सभी जीवों ने अपने एकत्व-स्वभाव से विरुद्ध विसंवाद उत्पन्न करने वाली काम-भोग तथा बंधन की कथा तो सुनी है, परिचय की है तथा अनुभव की है; परन्तु अपने स्वभाव से अभिन्न और पर से भिन्न ऐसे एकत्व-विभक्त आत्मा की चर्चा न तो कभी सुनी है, न परिचय की है और न अनुभव की है, अतः आत्मा की चर्चा सुलभ नहीं रही है अर्थात् दुर्लभ रही है।

(२४) आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा की टीका में लिखते हैं कि जगतजनों को अन्तरङ्ग में प्रागट प्रकाशमान आत्मा अनुभव गोचर होता है; परन्तु (क) कषायचक्र से एकाकार होने से (ख) स्वयं को आत्मा के स्वरूप का ज्ञान न होने से तथा (ग) आत्मा के जानकार — अनुभवी ज्ञानीजनों की सेवा-संगति न करने से पर से भिन्न आत्मा का श्रवण, परिचय एवं अनुभव दुर्लभ रहा है।

### गाथा-५

(२५) इस गाथा में कुन्दकुन्दाचार्य देव उस एकत्व-विभक्त अर्थात् स्व से एकत्व और पर से विभक्त भिन्न आत्मा को निज वैभव से दिखाते हैं। वे कहते हैं यदि मैं शुद्धात्मा को दिखाऊँ तो तुम अपने अनुभव से प्रमाण करना, कहीं चूक जाऊँ तो छल ग्रहण नहीं करना।

(२६) शब्दब्रह्म या अर्हन्त के परमागम के अभ्यास से, निर्दोष युक्ति के आलंबन से, परम्परागत अन्तर्निर्मम गुरुओं के प्रसाद (निमित्त) से दिये गये शुद्धात्म तत्त्व के उपदेश से और निरन्तर झरते हुए स्वाद में आते हुए सुंदर निजानंद के अनुभव से मेरे निजवैभव का जन्म हुआ है।

### गाथा-६

(२७) शिष्य का प्रश्न 'वह शुद्धात्मा कौन है?' उसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि वह शुद्धात्मा प्रमत्त नहीं है, अप्रमत्त नहीं है, वह तो एक ज्ञायकभाव है जो नित्य शुद्ध है और अनुभवगोचर है।

(२८) टीकाकार लिखते हैं कि वह शुद्धात्मा स्वयं सिद्ध होने से अनादि-अनन्त है, नित्य स्पष्ट प्रकाशमान ज्योतिरूप एक ज्ञायक भाव है।

(२९) वह ज्ञायकभाव, संसार दशा में दूध तथा पानी की तरह कर्म पुरूलों के साथ एकरूप होने पर भी, द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा पुण्य-पाप को उत्पन्न करने वाले शुभ-अशुभ भावरूप नहीं होता है। ज्ञायक तो ज्ञायक ही रहता है। इसलिये ज्ञायक प्रमत्त-अप्रमत्तरूप नहीं होने से शुद्ध ही रहता है।

(३०) ज्ञायक नाम उसे ज्ञेयों को जानने के कारण दिया गया है, यद्यपि ज्ञेयों को ज्ञायक जानता है तथापि उसमें ज्ञेयकृत अशुद्धि नहीं होती है। अशुद्धता अशुद्धनय का तथा शुद्धता शुद्धनय का विषय है। शुद्धनय अपेक्षा अशुद्धता पर्यायदृष्टि है, व्यवहार है।

(३१) यद्यपि शुद्धता व अशुद्धता दोनों वस्तु के धर्म हैं, तथापि अशुद्धता अशुद्धनय का विषय है और अशुद्धनय का विषय संसार है जो दुःखरूप है; अतः दुःख मिटाने के लिए शुद्धनय का उपदेश प्रधान है।



## गाथा-७

(३२) सद्भूत व्यवहार नय से ज्ञानी के दर्शन-ज्ञान व चारित्र के भेद कहे गये हैं; परन्तु परमार्थ से आत्मा में दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद नहीं हैं।

(३३) जिस प्रकार अग्नि जलाती है अतः दाहक है, पचाती है अतः पाचक है और प्रकाश करती है अतः प्रकाशक है; उसी प्रकार व्यवहार नय से जीव जानता है अतः ज्ञान है, देखता है अतः दर्शन है, आचरता है अतः आचरण (चारित्र) है और परमार्थ से तो जीव शुद्धचैतन्य मात्र अभेद वस्तु है।

## गाथा-८

(३४) यदि ऐसा है तो एक परमार्थ का ही उपदेश देना चाहिए, व्यवहार का उपदेश किसलिए दिया है ? इसके समाधान में आचार्य कहते हैं कि जिसप्रकार अनार्य-म्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा बिना वस्तु स्वरूप समझाना संभव नहीं है, उसी प्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश देना या समझाना संभव नहीं है, अतः व्यवहार परमार्थ का प्रतिपादक होने से स्थापित करने योग्य तो है; परन्तु अनुसरण करने योग्य नहीं है।

## गाथा-९,१०

(३५) व्यवहार परमार्थ का प्रतिपादक कैसे है, वह कहते हैं — जो भावश्रुतज्ञानरूप स्वसंवेदनज्ञान केवल शुद्धात्मा को जानता है वह परमार्थ से श्रुतकेवली है और जो द्वादशांग भेदरूप समस्त द्रव्यश्रुतज्ञान को जानता है वह व्यवहार श्रुतकेवली है; यद्यपि जिस प्रकार पूर्व पुरुषों को शुक्लध्यान रूप स्वसंवेदनज्ञान होता था, उस प्रकार स्वसंवेदन ज्ञान अभी नहीं होता है, तथापि निश्चय धर्मध्यान

के योग्य स्वसंवेदन ज्ञान अभी भी होता है। अतः द्रव्यश्रुत के समस्त विस्तार — भेदकथन का सार निजशुद्धात्मा को भावश्रुतज्ञान द्वारा स्वसंवेदन करना है, अतः व्यवहार परमार्थ का प्रतिपादक है — ऐसा निश्चय करना।

## गाथा-११

(३६) व्यवहार नय परमार्थ का प्रतिपादक है तो फिर वह अनुसरण करने योग्य क्यों नहीं है ? इसका समाधान यह है कि व्यवहार नय सर्व ही अभूतार्थ है; क्योंकि वह अविद्यमान अर्थ को बतलाता है, जबकि निश्चय एक ही भूतार्थ है विद्यमान अर्थ को बतलाता है। अभूतार्थ का श्रद्धान परमार्थ न होने से अनुभव या सम्यग्दर्शन का कारण नहीं है, अतः व्यवहार नय अनुसरण करने योग्य नहीं है; परन्तु निश्चय अर्थात् भूतार्थ-सत्यार्थ-यथार्थ यह परमार्थ का प्रतिपादक और वस्तुस्वरूप का सम्यक् अवलोकन करने वाला होने से सम्यग्दर्शन का कारण है।

(३७) शुद्धनय का विषय अभेद या एकाकार रूप नित्य द्रव्य है, उसकी दृष्टि में भेद दिखाई नहीं देते; इसलिए इस दृष्टि में भेद अविद्यमान है अभूतार्थ हैं असत्यार्थ हैं। ऐसा भी नहीं है कि भेदरूप कोई वस्तु ही नहीं है, अपितु नाम, लक्षण तथा प्रयोजन अपेक्षा व्यवहार कथन में भेद कहे जाते हैं। अतः सर्वथा एकान्त भी ग्राह्य नहीं है।

(३८) विशेष यह है कि जिनवाणी स्याद्वाद रूप है, वह प्रयोजनवश मुख्य-गौण करके कथन करती है। प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादि से ही है, उसका उपदेश बहुधा सभी परस्पर में करते हैं, जिनवाणी में भी भेदरूप व्यवहार के कथन बहुत हैं, परन्तु व्यवहार का फल संसार ही है।

(३९) जीव को शुद्धनय का पक्ष तो कभी आया नहीं और उसका उपदेश भी विरल है, अतः शुद्धनय को प्रधान करके उसे भूतार्थ कहा है तथा उसके आश्रय से सम्यग्दृष्टि होते हैं — ऐसा भी कहा है।

### गाथा-१२

(४०) व्यवहार नय का उपदेश सर्वथा निषेध्य नहीं है, क्योंकि जो जीव समदर्शन-ज्ञान-चारित्र्य की अपूर्णता रूप अपरमभाव (साधकदशा) वाले हैं, उन्हें जानने में आता हुआ व्यवहार प्रयोजनवान कहा है और जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य की पूर्णता रूप परमभाव को देखनेवाले हैं, उन्हें शुद्धनय जाना हुआ प्रयोजनवान है।

(४१) जो व्यवहार को सर्वथा असत्यार्थ मानकर छोड़ता है और उसे शुद्धोपयोग की साक्षात् प्राप्ति तो हुई नहीं है; तब वह उल्टा अशुभोपयोग में आकर, भ्रष्ट होकर स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति करेगा उससे नरकादि गति तथा परम्परा से निगोदादि को प्राप्त करेगा।

### गाथा-१३

(४२) भूतार्थनय, निश्चयनय या शुद्धनय से नवतत्त्वों को जानना सम्यक्त्व है। वहाँ भूतार्थनय से जानने का अर्थ यह है बाह्यतीर्थ की प्रवृत्ति के निमित्तभूत अभूतार्थनय, व्यवहारनय या अशुद्धनय से जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आसव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नवतत्त्वों का भेदरूप उपदेश दिया गया है; परन्तु भूतार्थ नय से उन नवतत्त्वों में छिपी हुई एकत्वरूप आत्मज्योति को प्राप्त कर, शुद्धनय से उसकी अनुभूति होती है, वही आत्मख्याति है।

(४३) व्यवहार नय आत्मा को अवस्थाओं द्वारा विविध प्रकार से दिखलाता है परन्तु शुद्धनय तो आत्मा को एक चैतन्य चमत्कार

मात्र दिखलाता है, इसलिए उस एकाकार स्वरूप आत्मा का अनुभव करना चाहिए तथा पर्यायबुद्धि का एकान्त त्यागना चाहिए।

(४४) प्रमाण की विषयभूत द्रव्य-पर्यायमय वस्तु में द्रव्य स्वभाव की मुख्यता से अनुभव कराये वह द्रव्यार्थिक नय है तथा पर्याय का मुख्यता से अनुभव कराये वह पर्यायार्थिकनय है।

(४५) शुद्धनय समस्त भेदों को गौण करता है, वहाँ शुद्धनय के विषयभूत आत्मा के अनुभव में नयों की लक्ष्मी उदित नहीं होती है, प्रमाण का भेदविकल्प विलय होता है तथा निक्षेप समूह का विकल्प भी दिखाई नहीं देता है; अतः अनुभव में द्वैत भासित ही नहीं होता है, क्योंकि अनुभव अद्वैत तथा निर्विकल्प ही होता है।

### गाथा-१४

(४६) शुद्धनय आत्मा को अबद्ध-अस्पृष्ट (बंध तथा स्पर्श से रहित) अनन्य, नियत, अविशेष तथा असंयुक्त ऐसे पाँच भाव रूप से देखता है। ऐसा देखना परमार्थ, भूतार्थ या सत्यार्थ है।

(४७) यद्यपि पर्यायदृष्टि से कर्मों से बद्ध-स्पृष्टपणा, अन्य अन्यपणा, अनियतपणा, विशेषपणा तथा संयुक्तपणा भूतार्थ है; तथापि पर्याय से हटकर स्वभाव के समीप जाकर द्रव्यदृष्टि या शुद्धनय की दृष्टि से देखा जाये तो ये पाँचों ही भाव अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं।

### गाथा-१५

(४८) जो अपने आत्मा को अबद्धस्पृष्टादि पाँचों भावरूप देखता है या अनुभव करता है, वह सम्पूर्ण जिनशासन को देखता या अनुभव करता है।

(४९) सम्पूर्ण जिनशासन द्रव्यश्रुत तथा भावश्रुत रूप है। वहाँ शुद्ध आत्मा का निर्विकल्प स्वसंवेदन भावश्रुतज्ञान है तथा सविकल्प

भेदरूप से जानना वह द्रव्यशुतज्ञान है अथवा भावशुत तो अनुभव रूप है तथा द्रव्यशुत शब्द-विस्तार तथा विकल्परूप है।

### गाथा-१६

(५०) साधु पुरुष को दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र का ही सेवन करना चाहिए; क्योंकि ये तीनों आत्मा ही हैं, अन्य नहीं हैं अर्थात् आत्मा से भिन्न नहीं हैं। आत्मा के अनुभव में दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों गर्भित हैं।

(५१) प्रमाणदृष्टि में वस्तु सदा द्रव्य-पर्यायरूप है; परन्तु शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से आत्मा अभेदरूप एक या एकाकाररूप है तथा व्यवहार दृष्टि में भेदरूप अनेक या अनेकाकाररूप है। शुद्धद्रव्यार्थिक नय की दृष्टि में आत्मा एकाकार अनुभवरूप है — इस द्रव्यदृष्टि में पर्यायार्थिक दृष्टि गौण होती है।

— प्रस्तुति : डॉ. उत्तमचन्द्र जैन, छिन्दवाड़ा

### 3. श्रीसमयसार जी - ४७ शक्तियाँ

ज्ञानानंदस्वभावी आत्मा के एक ज्ञानमात्र भाव के भीतर अनंत शक्तियाँ उछलती हैं, उनमें से ४७ शक्तियों का व्याख्यान आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने समयसार की आत्मव्याप्ति टीका के परिशिष्ट में किया है। आचार्यदेव ने उनका संस्कृत भाषा में बहुत ही सारगर्भित विवेचन अत्यंत संक्षेप में प्रस्तुत किया है, उसी विवेचन के आधार पर यहाँ संस्कृत व्याख्या के साथ उनका संक्षिप्त सारांश भी प्रस्तुत किया गया है।

१. जीवत्वशक्ति — आत्मद्रव्यहेतुभूतचैतन्यमात्रभावधारण लक्षणा जीवत्वशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, आत्मद्रव्य के कारणभूत चैतन्यमात्र भावप्राण को धारण करता है, उसे जीवत्वशक्ति कहते हैं।

२. चित्तिशक्ति — अजडत्वात्मिका चित्तिशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, जड़रहित चेतनस्वरूप होता है, उसे चित्तिशक्ति कहते हैं।

३. दृशिशक्ति — अनाकार उपयोगमयी दृशिशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, अनाकार दर्शनोपयोग स्वरूप होता है, उसे दृशिशक्ति कहते हैं।

४. ज्ञानशक्ति — साकार उपयोगमयी ज्ञानशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, साकार ज्ञानोपयोगमयी स्वरूप होता है, उसे ज्ञानशक्ति कहते हैं।

५. सुखशक्ति — अनाकुलत्वलक्षणा सुखशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, अनाकुल सुखस्वरूप होता है, उसे सुखशक्ति कहते हैं।

६. वीर्यशक्ति — स्वरूपनिर्वर्तनसामर्थ्यरूपा वीर्यशक्तिः। अर्थात्

जिस शक्ति के कारण आत्मा, स्वरूप-रचना करने की सामर्थ्य से सहित होता है, उसे वीर्यशक्ति कहते हैं।

७. प्रभुत्वशक्ति – अखण्डितप्रतापस्वातंत्र्यशालित्वलक्षणा प्रभुत्वशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, अखण्डित प्रताप एवं स्वतंत्रता से शोभित होता है, उसे प्रभुत्वशक्ति कहते हैं।

८. विभुत्वशक्ति – सर्वभावव्यापकैकभावरूपा विभुत्वशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, सर्वभावों में व्यापक एकभावरूपरूप रहता है, उसे विभुत्वशक्ति कहते हैं।

९. सर्वदर्शित्वशक्ति – विश्वविश्वसामान्यभावपरिणतात्म-दर्शनमयी सर्वदर्शित्वशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, समस्त विश्व के सामान्यभाव से परिणमित आत्मदर्शनमयी होता है, उसे सर्वदर्शित्व शक्ति कहते हैं।

१०. सर्वज्ञत्वशक्ति – विश्वविश्वविशेषभावपरिणतात्म-ज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, समस्त विश्व के विशेष भावों को जाननेरूप से परिणमित आत्मज्ञानमयी होता है, उसे सर्वज्ञत्व शक्ति कहते हैं।

११. स्वच्छत्वशक्ति- नीरूपात्मप्रदेशप्रकाशमानत्वोक्तालोका-कारमेवकोपयोग लक्षणा स्वच्छत्वशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, अमूर्तिक आत्मप्रदेशों में प्रतिबिम्बित समस्त लोकालोक के आकारों के कारण विचित्र उपयोग लक्षणवाला होता है, उसे स्वच्छत्वशक्ति कहते हैं।

१२. प्रकाशशक्ति – स्वयंप्रकाशमानविशदस्वसंविन्मयी प्रकाशशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, स्वयं प्रकाशमान निर्मल स्वसंवेदनमयी होता है, उसे प्रकाशशक्ति कहते हैं।

१३. असंकुचितविकासत्वशक्ति – क्षेत्रकालानवच्छिद्यचि-द्विलासाल्तिका असंकुचितविकासत्वशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, क्षेत्र और काल से संबन्धी सीमाओं, मर्यादा एवं बाधाओं से अबाधित सदा चिद्विलास स्वरूप रहता है, उसे असंकुचितविकासत्वशक्ति कहते हैं।

१४. अकार्यकारणत्वशक्ति – अन्याऽक्रियमाणाऽन्याऽकार्यै-कद्रव्यात्मिकाऽकार्यकारणत्वशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, अन्य द्रव्य का कार्य या कारण नहीं होता और सदाकाल एकद्रव्यात्मक बना रहता है, उसे अकार्यकारणत्वशक्ति कहते हैं।

१५. परिणम्यपरिणामकत्वशक्ति – परात्मनिमित्तक ज्ञेय-ज्ञानाकारग्रहणग्राहणस्वभावरूपा परिणम्यपरिणामकत्वशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, परनिमित्तक ज्ञेयकारों को ग्रहण करने के कारण परिणम्य तथा स्व निमित्तक ज्ञानकारों द्वारा उन्हें ग्रहण करने के स्वभावरूप होने के कारण परिणामक होता है, उसे परिणम्य परिणामकत्व शक्ति कहते हैं।

१६. त्यागोपादानशून्यत्व शक्ति – अन्यूनानतिरिक्तस्वरूप-नियतस्वरूपा त्यागोपादानशून्यत्व शक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, न्यून-अधिकता से रहित स्वरूप में नियत रहता है, उसे त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति कहते हैं।

१७. अशुक्लधुलत्वशक्ति – षट्स्थानपतितवृद्धिहानिपरिणत-स्वरूपप्रतिष्ठत्कारणविशिष्ट गुणात्मिका अशुक्लधुलत्वशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, षट्गुणी वृद्धि-हानि से परिणमित होते हुए भी स्वरूप में प्रतिष्ठित होने के विशिष्ट गुणस्वरूप रहता है, छोटा-बड़ा नहीं होता है, उसे अशुक्लधुलत्वशक्ति कहते हैं।

१८. उत्पादव्ययधुलत्वशक्ति – क्रमाक्रमवृत्तित्वलक्षणा-

उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, क्रमभावी पर्यायों की अपेक्षा उत्पाद-व्ययरूप तथा अक्रमभावी गुणों की अपेक्षा ध्रुव रहता है, उसे उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति कहते हैं।

१९. परिणामशक्ति - द्रव्यस्वभावभूतध्रौव्यव्ययोत्पादा-लिंगितसदृशविसदृशरूपैकास्तित्वमात्रमयी परिणामशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, ध्रौव्य से आलिंगित (स्पर्शित), सदृश रूपता और उत्पाद-व्यय से आलिंगित विसदृश रूपता धारण करता हुआ भी एक अस्तित्वमात्रमयी रहता है, उसे परिणामशक्ति कहते हैं।

२०. अमूर्तत्वशक्ति - कर्मबंधव्यपगमव्यांजितसहजस्पर्शादि-शून्यात्मप्रदेशात्मिका अमूर्तत्वशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, कर्मबन्ध के अभाव से प्रगट सहज तथा स्पर्श, रस, गंध और वर्ण से रहित आत्मप्रदेश धारण करता है, उसे अमूर्तत्वशक्ति कहते हैं।

२१. अकर्तृत्वशक्ति - सकलकर्मकृतज्ञातृत्वमात्रातिरिक्त-परिणामकरणोपरमात्मिका अकर्तृत्वशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, मात्र ज्ञाताभाव के अतिरिक्त समस्त कर्मकृत रागादि विकारी परिणामों का कारण नहीं होता है, उसे अकर्तृत्वशक्ति कहते हैं।

२२. अभोक्तृत्वशक्ति - सकलकर्मकृतज्ञातृत्वमात्रातिरिक्त-परिणामानुभवोपरमात्मिका अभोक्तृत्वशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, मात्र ज्ञाताभाव के अतिरिक्त समस्त कर्मकृत रागादि विकारी परिणामों का अनुभव नहीं करता है, उसे अभोक्तृत्व शक्ति कहते हैं।

२३. निष्क्रियत्वशक्ति - सकलकर्मापराप्रवृत्तात्मप्रदेशा-

नैषण्डरूपा निष्क्रियत्वशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, समस्त कर्मों के अभाव में प्रवृत्त निस्पन्द स्वरूप आत्मप्रदेशों वाला होता है, उसे निष्क्रियत्व शक्ति कहते हैं।

२४. नियतप्रदेशत्व शक्ति - आसंसारसंहरणविस्तरणालक्षित-किंचिदूनचरमशरीरपरिमाणवावस्थितलोकाकाशसम्मितात्मावयवत्व-लक्षणा नियतप्रदेशत्वशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, संसार अवस्था में संकोच-विस्तर सहित तथा मोक्ष अवस्था में चरम शरीर से किंचित् न्यून परिमाण में अवस्थित होते हुए भी आत्मा के अवयव अर्थात् उसके असंख्य प्रदेश लोकाकाश के बराबर ही रहते हैं, उसे नियतप्रदेशत्व शक्ति कहते हैं।

२५. स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति - सर्वशरीरैकस्वरूपात्मिका स्वधर्मव्यापकत्वशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, सर्व शरीरों में एकस्वरूपान्मक ही रहता है अर्थात् अपने ज्ञान-दर्शन आदि धर्मों में व्यापक रहता है, स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति कहते हैं।

२६. साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणधर्मत्वशक्ति-स्वपरसमानासमानसमानात्रिविधभावधारणात्मिका साधारणा-साधारणसाधारणासाधारणधर्मत्वशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, स्व-पर द्रव्यों से समान, असमान और समानासमान ऐसे तीन प्रकार के भावों को धारण करता है, उसे साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणधर्मत्वशक्ति कहते हैं।

२७. अनन्तधर्मत्वशक्ति - विलक्षणानंतस्वभावभावितैक-भावलक्षणा अनंतधर्मत्व शक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, विशेष-विशेष लक्षण वाले अनन्त स्वभावों से भावित (व्याप्त/पवित्रित/सिद्ध/संतुप्त/सरावोर/मिश्रित) एकभाव धारण करता है, उसे अनन्तधर्मत्व शक्ति कहते हैं।

२८. विरुद्धधर्मत्वशक्ति - तदतद्रूपमयत्वलक्षणा विरुद्ध-धर्मत्वशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, तत्स्वरूप और अतत्स्वरूप - ऐसे विरुद्ध धर्मों को एकसाथ धारण करता है, उसे विरुद्धधर्मत्व शक्ति कहते हैं।

२९. तत्त्वशक्ति - तद्रूपभवनरूपा तत्त्वशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, अपने स्वरूप परिणमन करता है, उसे तत्त्वशक्ति कहते हैं।

३०. अतत्त्वशक्ति - अतद्रूपभवनरूपा अतत्त्वशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, कभी परस्वरूप परिणमन नहीं करता है, उसे अतत्त्वशक्ति कहते हैं।

३१. एकत्वशक्ति - अनेकपर्यायव्यापकैकद्रव्यमयत्वरूपा एकत्वशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, अनेक पर्यायों (सहभावी पर्याय अर्थात् गुण एवं क्रमभावी पर्याय अर्थात् पर्याय) में व्यापक एकद्रव्यमय रहता है, उसे एकत्वशक्ति कहते हैं।

३२. अनेकत्वशक्ति - एकद्रव्यव्याप्यानेकपर्यायमयत्वरूपा अनेकत्वशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, एक द्रव्य में व्यापक अनेक पर्याय मय (सहभावी पर्याय एवं क्रमभावी पर्यायमय अर्थात् गुण-पर्यायमय) होता है, उसे अनेकत्वशक्ति कहते हैं।

३३. भावशक्ति (प्रथम) - भूतावस्थत्वरूपा भावशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, वर्तमान-अवस्था रूप रहता है, उसे भावशक्ति (प्रथम) कहते हैं।

३४. अभावशक्ति - शून्यावस्थत्वरूपा अभावशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, वर्तमान-अवस्था के अलावा अन्य अवस्थारूप नहीं रहता है अर्थात् अन्य अवस्थाओं की अपेक्षा शून्य

अवस्थारूप रहता है, उसे अभावशक्ति कहते हैं।

३५. भावाभावशक्ति - भवत्पर्यायव्ययरूपा भावाभावशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, वर्तमान पर्याय का आगामी समय में व्यय करता है, उसे भावाभावशक्ति कहते हैं।

३६. अभावभावशक्ति - अभवत्पर्यायोदयरूपा अभावभावशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, वर्तमान समय में अविद्यमान परन्तु आगामी समयों में होनेवाली पर्यायों को उनके अपने-अपने जन्मक्षणों में उत्पन्न करता है, उसे अभावभावशक्ति कहते हैं।

३७. भावभावशक्ति - भवत्पर्यायभवनरूपा भावभावशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, अपने-अपने समयों में होनेवाली वर्तमान पर्यायों को उन-उन समयों में उत्पन्न करता है, उसे भावभावशक्ति कहते हैं।

३८. अभावभाव शक्ति - अभवत्पर्यायभवनरूपा अभावभावशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, अस्वभावभूत त्रिकालवर्ती पर्यायों को कभी नहीं होने देता है, उसे अभावभाव शक्ति कहते हैं।

३९. भावशक्ति (द्वितीय) - कारकानुगतक्रियानिष्कान्त-भवनमात्रमयी भावशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, कारकों के अनुसार क्रिया से रहित होकर भवन या परिणमनमात्रमयी होता है, उसे (द्वितीय) भावशक्ति कहते हैं।

४०. क्रियाशक्ति - कारकानुगतभवत्तारूपभावमयी क्रियाशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, सकलकारकों के अनुसार होनेरूप भावमयी होता है, उसे क्रियाशक्ति कहते हैं।

४१. कर्मशक्ति — प्राप्यमाणसिद्धरूपभावमयी कर्मशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, प्राप्त होने योग्य सिद्धरूप भावमयी होता है, उसे कर्मशक्ति कहते हैं।

४२. कर्तृशक्ति — भवतारूपसिद्धरूपभावकत्वमयी कर्तृशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, घटित होनेवाले सिद्धरूपभाव से अनुप्राणित होता है, उसको उत्पन्न करता है, उसे कर्तृशक्ति कहते हैं।

४३. करणशक्ति — भवद्भावभवनसाधकतमत्वमयी करणशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, घटित होनेवाले सिद्धरूप भाव के होने में उत्कृष्ट साधकतम होता है, उसे करणशक्ति कहते हैं।

४४. सम्प्रदानशक्ति — स्वयं दीयमानभावोपेयत्वमयी सम्प्रदान शक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, स्वयं के द्वारा स्वयं को दिये जानेवाले भाव को प्राप्त करने योग्य होता है, उसे सम्प्रदान शक्ति कहते हैं।

४५. अपादानशक्ति — उत्पादव्ययालिंगितभावापायनिरपाय-ध्रुवत्वमयी अपादान शक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, उत्पाद-व्यय से आलिंगित भावों के नष्ट होने पर भी स्वयं ध्रुवरूप बना रहता है, उसे अपादानशक्ति कहते हैं।

४६. अधिकरणशक्ति — भाव्यमानभावाधारत्वमयी अधिकरण शक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, होनेवाले भाव का आधार बनता है, उसे अधिकरणशक्ति कहते हैं।

४७. सम्बन्धशक्ति — स्वभावमात्रस्वस्वामित्वमयी संबंध-शक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, स्वभावरूप केवल अपने भावों का स्वामी होता है, उसे सम्बन्धशक्ति कहते हैं।

— प्रस्तुति : डॉ. राकेश जैन शास्त्री, नागपुर

## श्री प्रवचनसारजी - ४७ नय

जिस प्रकार ज्ञान मात्र आत्मा में अनन्त शक्तियाँ विद्यमान हैं, उसी प्रकार उसमें अनन्त धर्म भी विद्यमान हैं। आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने समयसार की आत्मख्याति टीका में ४७ शक्तियों का वर्णन किया है और प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका में ४७ नयों का वर्णन किया है।

अनन्त धर्मों में व्यास धर्मों आत्मा श्रुतज्ञान प्रमाण पूर्वक स्वानुभव से जाना जाता है। यह श्रुतज्ञान अनन्त नयों में व्यास है जो कि एक-एक धर्म को विषय बनाते है।

४७ शक्तियों को जानने से आत्मा के वैभव का ज्ञान होता है और ४७ धर्मों को जानने से आत्मा के स्वरूप तथा उसमें विद्यमान अनेक योग्यताओं का परिचय प्राप्त होता है, जिससे आत्मा को अधिक स्पष्टता व गहराई से जाना जा सकता है।

यहाँ ४७ नयों के माध्यम से ४७ धर्मों के स्वरूप की संक्षिप्त चर्चा की जा रही है।

इन ४७ नयों के नाम इस प्रकार है :-

१. द्रव्यनय, २. पर्यायनय, ३. अस्तित्वनय, ४. नास्तित्वनय,
५. अस्तित्वनास्तित्वनय, ६. अवक्तव्यनय, ७. अस्तित्व-अवक्तव्यनय,
८. नास्तित्व-अवक्तव्यनय, ९. अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्यनय, १०. विकल्पनय, ११. अविकल्पनय, १२. नामनय, १३. स्थापनानय, १४. द्रव्यनय, १५. भावनय, १६. सामान्यनय, १७. विशेषनय, १८. नित्यनय, १९. अनित्यनय, २०. सर्वागतनय, २१. असर्वागतनय, २२. शून्यनय, २३. अशून्यनय, २४. ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय, २५. ज्ञानज्ञेय-द्वैतनय, २६. नियतनय, २७. अनियतनय, २८. स्वभावनय, २९. अस्वभावनय, ३०. कालनय, ३१. अकालनय, ३२. पुरुषकारनय, ३३. दैवनय, ३४. ईश्वरनय, ३५. अनीश्वरनय, ३६. गुणीनय, ३७. अगुणीनय,

३८. कर्तृनय, ३९. अकर्तृनय, ४०. भोक्तृनय, ४१. अभोक्तृनय, ४२. क्रियानय, ४३. ज्ञाननय, ४४. व्यवहारनय, ४५. निश्चयनय, ४६. अशुद्धनय ४७. शुद्धनय।

उक्त ४७ नयों की नामावली पर गहराई से विचार करने पर ज्ञात होता है कि नय क्रमांक ३ से ९ तक के नय सप्तभंगी सम्बन्धी हैं तथा १२ से १५ तक चार निक्षेप सम्बन्धी हैं। शेष ३६ नय परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले धर्मों को विषय बनाने वाले १८ धर्मयुगलों पर आधारित हैं।

इन ४७ नयों द्वारा भगवान आत्मा के ४७ धर्मों को जानकर शेष अनन्त धर्मों का भी अनुमान किया जा सकता है तथा सम्यक् श्रुतज्ञान द्वारा अनन्त धर्मात्मक एक धर्म आत्मा का अनुभव भी किया जा सकता है।

### स्वभाव, गुण, शक्ति और धर्म -

४७ धर्मों को जानने से पूर्व स्वभाव, गुण, शक्ति और धर्म के स्वरूप की भी यथाशक्ति चर्चा करना आवश्यक है, क्योंकि आत्मा का स्वरूप बताते समय प्रायः इन चार बिन्दुओं की चर्चा अवश्य होती है।

#### १. स्वभाव -

अनन्त गुण, शक्ति और धर्म - ये सभी प्रत्येक वस्तु में पारिणामिक भाव रूप से विद्यमान रहते हैं। ये सभी कर्मों से निरपेक्ष हैं और द्रव्य के आत्म लाभ में अर्थात् उसके स्वरूप की रचना में हेतुभूत हैं अतः ये सब द्रव्य के स्वयं के भाव अर्थात् स्वभाव हैं।

वस्तु के स्वरूप चतुष्टय में विद्यमान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में गुण, शक्ति और धर्म भाव में शामिल होंगे। अतः ये सभी वस्तु के स्व+भाव हैं।

इसप्रकार स्वभाव सर्वव्यापी है जो वस्तु में गुण, शक्ति और धर्मों के रूप में त्रिकाल विद्यमान रहता है। प्रत्येक गुण, शक्ति या धर्म

का स्वभाव अन्य-अन्य तो होता है, प्रत्येक पर्याय अर्थात् औपशमिकादि चारों भावों या स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि का अपना-अपना स्वभाव होता है। तत्त्वार्थसूत्र में औपशमिकादि चारों भावों को जीव का स्वभाव कहा ही है -

“औपशमिक क्षाधिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदायिक पारिणामिकश्च।”

आत्मख्याति टीका में स्वभाव को ही वस्तु कहा है:-

“इह खलु स्वभाव मात्रं किल वस्तु”-गाथा ७१ की टीका

इसप्रकार स्वभाव शब्द का अर्थ गहराई से विचारणीय है।

२. गुण - द्रव्य में अनन्त विशेषताएँ (खूबियाँ) त्रिकाली शक्ति के रूप में विद्यमान रहती हैं। ये विशेषताएँ ही द्रव्य के गुण हैं जिनका भाव अंग्रेजी के क्वालिटी शब्द से अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है। जीव में ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त गुण हैं।

३. शक्ति - प्रत्येक गुण में त्रिकाल कायम रहने की, उसके स्वरूप के अनुसार कार्य करने की जो सामर्थ्य है वही उसकी शक्ति है। अर्थात् शक्तियाँ प्रायः गुणों के रूप में पाई जाती हैं। एक गायक में मधुर कण्ठ से गाने का गुण है तथा लम्बे समय तक गा सके - यह उसकी शक्ति है। ज्ञान आत्मा का गुण है तथा अपने सुनिश्चित ज्ञेयों को जानने की उसमें शक्ति है। प्रत्येक गुण में अपनी प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार कार्य करने की शक्ति होना ही चाहिए अन्यथा उसकी सार्थकता क्या होगी?

४. धर्म - धर्म से आशय मुख्यता अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्यादि परस्पर विरोधी स्वभावों से है। इनमें गुणों के समान उत्पाद-व्यय रूप पर्यायें नहीं होती, परन्तु वस्तु में उस धर्म के अनुरूप योग्यता होती है, जिसे किसी अपेक्षा से ही जाना/कहा जाता है। अपेक्षा सहित



जाननेवाला ज्ञान सम्यक् एकान्तरूप है तथा अपेक्षा रहित जाननेवाला ज्ञान मिथ्या एकान्तरूप होता है।

किसी व्यक्ति में ईमानदारी, बुद्धिमत्ता आदि विशेषतायें गुण के रूप में जानी जायेंगी, परन्तु छोटा-बड़ा, पिता-पुत्र, पतला-मोटा आदि को धर्म के रूप में जाना जाएगा, क्योंकि उसमें परस्पर विरुद्ध अपेक्षाओं से एक ही साथ छोटा-बड़ा, पिता-पुत्र आदि दोनों योग्यतायें विद्यमान हैं।

यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि कोई विशेषता शक्ति एवं धर्म दोनों रूपों में जानी जाती है। उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व शक्ति भी है। उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व स्वरूप अस्तित्व गुण भी है और सत् धर्म भी है। इस प्रकरण पर विचार-विमर्श की आवश्यकता है।

अब ४७ नयों के स्वरूप पर संक्षेप में विचार किया जाता है।

(१-२)

### द्रव्यनय और पर्यायनय

**वह आत्मद्रव्य द्रव्यनय से, पटमात्र की भाँति, चिन्मात्र है; पर्यायनय से तंतुमात्र की भाँति दर्शनज्ञानादिमात्र है।**

जैसे वस्त्र में अनेक ताने-बाने, रंग-रूप तथा आकारादि होते हैं, परन्तु उन्हें गौण करके मात्र वस्त्र को जानना द्रव्य नय है तथा उसके रंग-रूपादि भेदों जानना पर्यायनय है। उसीप्रकार मात्र चित् स्वभाव को जानना द्रव्यनय है तथा ज्ञान-दर्शनादि भेदों को जानना पर्यायनय है।

आत्मा में द्रव्य नाम का एक धर्म है जिसका स्वरूप चैतन्य मात्र है अथवा द्रव्य धर्म से आत्मा का चैतन्य स्वभाव उसके सम्पूर्ण गुण-पर्यायों में व्याप्त है और पर्याय धर्म से ज्ञान दर्शनादि भेद रूप रहने की योग्यता है।

द्रव्यार्थिकनय, पर्यायार्थिकनय और द्रव्य-पर्यायनयों में अन्तर है। द्रव्यार्थिकनय का विषय सम्पूर्ण सामान्य स्वभाव रूप अभेद धर्म है जबकि द्रव्यनय अनन्तधर्मों में से एक धर्म है। इसीप्रकार पर्यायार्थिकनय का विषय वस्तु का विशेष स्वभाव है, जबकि पर्याय धर्म भेदरूप रहने की विशिष्ट योग्यता है। द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक के विषय में प्रमाण के विषयभूत सम्पूर्ण वस्तु है, जबकि द्रव्यनय और पर्यायनय का विषय मात्र एक-एक धर्म है।

ये दोनों नय वस्तु की अभेद तथा भेदरूप एक-एक योग्यता को बताते हैं। जरा ध्यान दीजिए कि अभेद शब्द कितने अर्थों में प्रयुक्त होता है?

१. अभेद अनुभूति - जहाँ ध्यान ध्याता ध्येय का भी विकल्प नहीं है।

२. द्रव्यार्थिक या शुद्धनय का विषय - जिसमें भेदों को गौण करके अभेद वस्तु को विषय बनाया जाता है।

३. द्रव्यनय का विषय - समस्त भेदों में व्याप्त रहने की एक योग्यता रूप धर्म।

अतः अभेद शब्द के द्वारा कहाँ कौन-सा वाच्य बताना है इसका ध्यान रखना चाहिए?

(३-५)

### अस्तित्वनय, नास्तित्वनय एवं अस्तित्वनास्तित्वनय

“वह आत्मद्रव्य अस्तित्वनय से लोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित, संशानदशा में रहे हुए, लक्ष्योन्मुख बाण की भाँति स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा अस्तित्ववाला है, नास्तित्वनय से अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, संशान दशा में न रहे हुए, अलक्ष्योन्मुख उसी बाण की भाँति परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा नास्तित्ववाला है एवं

अस्तित्वनास्तित्वनय से लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित तथा डोरी और धनुष में नहीं स्थित, संधान-अवस्था में रहे हुए और संधान-अवस्था में नहीं रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख उसी बाण की भाँति क्रमशः स्व-पर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा अस्तित्वनास्तित्ववाला है।”

इस सम्बन्ध में निम्न बिन्दुओं के आधार पर विचार किया जा सकता है -

१. अस्तित्व और नास्तित्व को द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के रूप में समझाया गया है। स्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में ही वस्तु की सत्ता या नास्तित्व है।

२. परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में वस्तु का अस्तित्व नहीं है अर्थात् न-अस्तित्व है। अर्थात् वस्तु स्वरूप से है पर से नहीं है। आत्मा अपने चैतन्य स्वरूप से है शरीरादि रूप नहीं है। शरीरादि पर द्रव्यों में आत्मा का नास्तित्व है अर्थात् अस्तित्व नहीं है।

३. नास्तित्व धर्म समझने में पर का सहारा लेना पड़ता है पन्तु आत्मा के नास्तित्व धर्म की सत्ता आत्मा में आत्मा से ही है शरीर में या शरीर से नहीं। आत्मा का शरीर रूप में होने की योग्यता नास्तित्व धर्म स्वरूप है।

४. प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व अपने चतुष्टय में है, पर चतुष्टय में नहीं। अतः प्रयोग करते समय सावधानी रखी जानी चाहिए कि किसकी किसमें नास्ति कही जा रही है। शरीर में आत्मा का नास्तित्व है यह आत्मा का नास्तित्व धर्म हुआ और आत्मा में शरीर का नास्तित्व होना - यह शरीर के नास्तित्व धर्म की योग्यता है।

५. अस्तित्व धर्म में वस्तु की सत्ता का बोध होता है, और

नास्तित्व धर्म में वस्तु की असत्ता अर्थात् पर से भिन्नता, स्वतन्त्रता और अत्यन्त अभाव की सिद्धि होती है।

६. लौकिक जीवन में भी नास्तित्व की अनुभूति के प्रसंग बनते हैं। किसी विशिष्ट स्थान में किसी विशिष्ट व्यक्ति का न होना बहुत कुछ कह देता है। जन सामान्य में भी अनेक चर्चायें होने लगती हैं।

७. कार्योत्पत्ति में निमित्त की उपस्थिति अनिवार्य है और कई प्रसंगों में अभावरूप निमित्त भी होते हैं। समुद्र की निस्तरंग अवस्था में हवा का न चलना तथा आत्मा में रागादि की अनुत्पत्ति में द्रव्यकर्म का उदय न होना आदि अभावरूप निमित्त के उदाहरण हैं।

८. आचार्य समन्तभद्र ने आममिमांसा में अभावैकान्त का खण्डन करके अस्तित्व धर्म की और भावैकान्त का खण्डन करके नास्तित्व धर्म की महत्ता बताई है।

९. अस्तित्व-नास्तित्व धर्म की व्याख्या दो तरह से की जाती है। (अ) दोनों धर्म का क्रमशः कथन किया जा सकता है। (ब) दोनों विरोधी धर्म वस्तु में अविरोध रूप से एक साथ रहें - ऐसी योग्यता को तीसरे भंग द्वारा बताया जाता है। इसलिए वस्तु कथंचित् उभय रूप कही जाती है।

१०. अस्ति-नास्ति इन दो को मिला देने से तीसरा भंग बन गया - ऐसा नहीं है। उभयरूप में रहने की योग्यता वाला तीसरा धर्म वस्तु में है जो तीसरे भंग (नय) द्वारा कहा गया है। इसी प्रकार शेष ४ भंग भी वस्तु की उस-उस प्रकार की योग्यता रूप स्वतन्त्र धर्म हैं। मात्र दो धर्मों का विस्तार नहीं, क्योंकि ७ प्रकार के धर्म हैं, इसलिए ७ प्रकार की शंकायें होती हैं और इसलिए सात भंग हैं।

११. यदि दोनों धर्म एक साथ रहे तो वस्तु की सत्ता सुरक्षित न रह पाएगी अतः उभय धर्म स्वीकार करना चाहिए।

## (६) अवकतव्यनय

“लोहमय तथा अलोहमय, डोरी व धनुष के मध्य में स्थित तथा डोरी व धनुष के मध्य में नहीं स्थित, संधान-अवस्था में रहे हुए तथा संधान-अवस्था में न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलोक्ष्योन्मुख ऐसे पहले बाण की भाँति आत्मद्रव्य अवकतव्य नय से युगपत् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अवकतव्य है।”

अवकतव्य का स्वरूप निम्न बिन्दुओं के माध्यम से समझा जा सकता है।

१. सभी धर्मों का कथन एक साथ नहीं किया जा सकता इस अपेक्षा से वस्तु अवकतव्य रूप है।

२. यद्यपि इसमें बाणी की कमजोरी होने से बाणी की अपेक्षा आती है, परन्तु सम्पूर्ण रूप से कथन नहीं किया जा सकता - ऐसी योग्यता वस्तु में है, जिसे अवकतव्य द्वारा जाना/कहा जा सकता है।

३. वस्तु को सर्वथा अवकतव्य कहना भी स्व-वचन बाधित है अर्थात् अवकतव्य रूप योग्यता को तो कहा जा रहा है, इसलिए वह कथंचित् अवकतव्य है सर्वथा अवकतव्य नहीं। अनेक धर्मों का कथन क्रमशः किया जाता है अतः वस्तु कथंचित् वकतव्यरूप भी है।

४. तीर्थकरों के गुणों का वर्णन अथवा आचार्यों, ज्ञानियों के उपकार का वर्णन असंभव है - यह कथन भी अवकतव्य नय का प्रयोग है।

५. बालक यदि कोई गलती करे तो गम्भीर प्रकृति के माता-पिता उसे डाँटने के बदले मौन रहते हैं। समझदार बालक उनके मौन से ही उनकी नाराजगी समझ लेता है और अपनी गलती महसूस कर लेता है।

६. प्रारम्भ के तीन भंगों द्वारा वस्तु स्वरूप कहा जा रहा है,

अतः वे वकतव्यपने के वाचक हैं तथा अन्त के चार भंग अवकतव्य सम्बन्धी हैं।

(७-८-९)

अस्ति अवकतव्य, नास्ति अवकतव्य,

अस्ति-नास्ति अवकतव्यनय

अवकतव्यनय के बाद इन तीन नयों की विस्तृत व्याख्या दुर्लभ है, क्योंकि इनके प्रयोग बहुत कम पाये जाते हैं।

अस्ति अवकतव्य धर्म से तात्पर्य है कि आत्मा का अस्तित्व बताया जाने पर भी नास्तित्व तथा नित्य-अनित्यादि धर्म नहीं कहे गए, अतः वह अस्ति-अवकतव्यरूप योग्यतावाला है। स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का वर्णन करके यह नहीं समझना चाहिए कि सम्पूर्ण वस्तु का वर्णन हो गया।

इसी प्रकार नास्तित्व-अवकतव्य धर्म भी यह बताता है कि नास्तित्व से वस्तु का वर्णन करने पर भी वस्तु का बहुत अंश अवकतव्य रह गया है।

यही स्थिति सातवें अस्ति-नास्ति अवकतव्य धर्म के बारे में समझना चाहिए। यदि क्रमशः अस्ति-नास्ति दोनों धर्मों का वर्णन किया जाए तो भी वस्तु का सम्पूर्ण वर्णन नहीं हो पाएगा, क्योंकि नित्य-अनित्य आदि अन्य धर्म-युगल तथा ज्ञानादि अनन्त गुण नहीं कहे गए। किसी भी एक धर्मयुगल से वर्णन करने पर भी उसी समय वस्तु अवकतव्य भी रह जाती है - इसी योग्यता का वाचक सातवाँ भंग है।

(१०-११)

विकल्पनय और अविकल्पनय

“आत्मद्रव्य विकल्पनय से बालक, कुमार और वृद्ध - ऐसे एक पुरुष की भाँति सविकल्प है और अविकल्पनय से एक पुरुषमात्र की भाँति अविकल्प है।”

यहाँ विकल्प का अर्थ भेद है और अविकल्प का अर्थ अभेद है। जिसप्रकार एक ही पुरुष बालक, जवान और वृद्ध - इन अवस्थाओं का धारण करनेवाला होने से बालक, जवान एवं वृद्ध - ऐसे तीन भेदों में विभाजित किया जाता है, उसी प्रकार भगवान आत्मा भी ज्ञान, दर्शनादि गुणों एवं मनुष्य, तिर्यंच, नरक, देवादि अथवा बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा आदि पर्यायों के भेदों में विभाजित किया जाता है।

तथा जिसप्रकार बालक जवान एवं वृद्ध अवस्थाओं में विभाजित होने पर भी वह पुरुष खण्डित नहीं हो जाता, रहता तो वह एक मात्र अखण्डित पुरुष ही है। उसी प्रकार ज्ञान-दर्शनादि गुणों एवं नरकादि अथवा बहिरात्मादि पर्यायों के द्वारा भेद को प्राप्त होने पर भी भगवान आत्मा अखण्ड आत्मा ही रहता है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि द्रव्यनय और अविकल्पनय तथा पर्यायनय और विकल्पनय में क्या अन्तर है? जैसे तो ये दोनों जोड़े एक से ही मालूम पड़ते हैं, परन्तु गहराई से विचार करने पर ऐसा लगता है कि द्रव्यनय आत्मा का चिन्मात्र धर्म बता रहा है और अविकल्पनय आत्मा की गुण-पर्यायों में व्याप्त होने की योग्यता को बता रहा है अर्थात् उसके अभेदरूप धर्म का वाचक है। इसी प्रकार पर्यायनय आत्मा को ज्ञान-दर्शन गुणों को बताता है और विकल्पनय उसकी भेद रूप योग्यता को बताता है। इस दृष्टि से सुधी जनों द्वारा यह प्रकरण विचारणीय है।

(१२-१५)

### नामनय, स्थापनानय, द्रव्यनय और भावनय

“आत्मद्रव्य नामनय से नामवाले की भाँति शब्दब्रह्म को स्पर्श करनेवाला है, स्थापनानय से मूर्तिपने की भाँति सर्व पुद्गलों का अवलम्बन करनेवाला है, द्रव्यनय से बालक, सेठ और श्रमणराजा की भाँति अनागत और अतीत पर्याय से प्रतिभासित होता है और भावनय से पुरुष के समान प्रवर्तमान स्त्री की भाँति वर्तमान पर्यायरूप से उल्लसित-प्रकाशित-प्रतिभासित होता है।”

ये निक्षेपों सम्बन्धी नय आत्मा में विद्यमान नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव धर्मों को बताते हैं। इन चारों नयों का स्वरूप निम्न बिन्दुओं के आधार से स्पष्ट समझा जा सकता है।

### नामनय

१. आत्मा आत्मा शब्द से वाच्य होने की योग्यता रखता है। इस योग्यता को नाम धर्म कहते हैं और इसे जानने वाला नय नामनय है।

२. यदि आत्मा में वाणी द्वारा वाच्य होने की योग्यता न होती तो उसका उपदेश देना, ग्रन्थ रचना करना आदि निरर्थक हो जाता।

३. आत्मा में वाणी का अभाव है तथापि वाणी से वाच्य होने रूप धर्म का अभाव नहीं है। भगवान आत्मा परम ब्रह्म है और उसे प्रकाशित करने वाली वाणी शब्दब्रह्म है। “शुद्ध ब्रह्म परमात्मा शब्द ब्रह्म जिनवाणी।”

### स्थापनानय

१. जिस प्रकार मूर्ति में भगवान की स्थापना की जाती है उसी प्रकार किसी भी पुद्गलपिण्ड में आत्मा की स्थापना की जाती सकती है। जिस वस्तु में जिस व्यक्ति की स्थापना की जाती है उस वस्तु को देखने पर वह व्यक्ति ख्याल में आता है - इसप्रकार वह वस्तु स्थापना के द्वारा उस व्यक्ति का ज्ञान करा देती है।

२. शरीर में उपचार से जीव की स्थापना करके शरीर को जीव कहा जाता है - अर्थात् जीव में ऐसी योग्यता रूप धर्म है कि उसकी स्थापना पुद्गल पिण्डों में की जा सके।

३. स्थापना तदाकार और अतदाकार के भेद से दो प्रकार की होती है। मूर्ति में भगवान की स्थापना के प्रयोग तो जगत में देखे ही जाते हैं, जो तदाकार स्थापना कहलाते हैं; किसी के द्वारा भेंट में प्राप्त

घड़ी, रूमाल आदि वस्तुओं को देखकर उस व्यक्ति की याद आती है अतः इसे अतदाकार स्थापना का प्रयोग कहा जा सकता है।

### द्रव्यनय

१. आत्मा को उसकी भूत-भविष्य की पर्यायों के रूप में वर्तमान में देखा जा सके - ऐसी योग्यता उसमें है, जिसे द्रव्य नामक धर्म से जाना जाता है। उस योग्यता को जानने वाला ज्ञान द्रव्यनय है।

२. राजा के पुत्र को राजा के रूप में देखना, राजा यदि मुनि हो जाए तो भी उन्हें राजा के रूप में देखना तथा ऋषभादि तीर्थंकर भगवन्तो को सिद्ध हो जाने पर भी तीर्थंकर के रूप में देखना - ये सब द्रव्यनय के ही प्रयोग हैं।

३. पहला द्रव्यनय कहा गया था जो आत्मा को सामान्य चैतन्य मात्र देखता है और यह द्रव्यनय आत्मा को उसकी भूत-भविष्य की पर्याय के रूप में देखता है। प्रथम द्रव्यनय के साथ पर्यायनय कहा गया है और इस द्रव्यनय के साथ भावनय कहा गया है।

### भावनय

१. आत्मा को उसकी वर्तमान पर्यायरूप में जाना जाए - ऐसी योग्यता को उसका भाव नामक धर्म कहा जाता है तथा इसे जाननेवाला श्रुतज्ञान भावनय कहा जाता है।

२. यदि कोई डॉक्टर पूजा कर रहा हो तो उसे डॉक्टर कहना द्रव्यनय है और पुजारी कहना भावनय है।

उपर्युक्त चारों नयों को निम्नलिखित सल उदाहरण द्वारा भी समझा जा सकता है:-

जिनेन्द्र नाम के व्यक्ति को जिनेन्द्र कहना नामनय है।

अन्तर्मुख वीतरागी प्रतिमा को जिनेन्द्र कहना स्थापना नय है।

मुनिराज को जिनेन्द्र कहना द्रव्यनय है।

जिनेन्द्र भगवान को जिनेन्द्र कहना भावनय है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि आत्मा में विद्यमान नाम-स्थापना-द्रव्य और भाव ये धर्म ज्ञेय हैं तथा इनको जाननेवाले चारों नय श्रुतज्ञान हैं और इनके आधार पर प्रचलित होनेवाला लोक व्यवहार निश्चय है।

इन चारों नयों को जानने से आत्मा की विशिष्ट योग्यताओं का ज्ञान होता है और उसके प्रतिपादन की विभिन्न शैलियाँ द्वारा दिखाई देने वाला विरोध भिट जाता है।

(१६-१७)

### सामान्यनय और विशेषनय

“आत्मद्रव्य सामान्यनय से हार-माला-कण्ठी के डोरे की भाँति व्यापक है और विशेषनय से उसके एक मोती की भाँति अव्यापक है।”

१. आत्मा में अपने गुण-पर्यायों में व्याप्त होकर रहने की योग्यता को सामान्य धर्म कहते हैं और उसे जाननेवाला ज्ञान सामान्यनय कहलाता है।

२. यदि द्रव्य अपने गुण-पर्यायों में व्याप्त न हो तो यह गुण या पर्याय इस द्रव्य की है - ऐसा किस आधार पर कहा जा सकेगा? अर्थात् ज्ञान आत्मा का गुण है और मतिज्ञान आदि आत्मा की पर्यायें हैं - ऐसा नहीं कहा जा सकता।

३. आत्मा में ऐसी योग्यता भी है जिससे उसका एक गुण या पर्याय अन्य गुणों या पर्यायों में प्रवेश नहीं कर सकती। प्रत्येक गुण अपने-अपने स्वभाव में और प्रत्येक पर्याय अपने-अपने स्वकाल में सतरूप से विद्यमान है। इस योग्यता को ही विशेष धर्म कहते हैं और इसे जाननेवाले ज्ञान विशेषनय कहलाता है।

४. आत्मा अपनी मिथ्यात्व और सम्यक्त्व दोनों पर्यायों में व्यापक है अर्थात् इनके स्वकाल में इन पर्यायरूप में परिणमन करता है, परन्तु मिथ्यात्व पर्याय आगामी सभी पर्यायों में व्यापक हो जाये तो मिथ्यात्व का अभाव कभी नहीं हो सकेगा। मिथ्यात्व पर्याय का नाश होकर सम्यक्त्व पर्याय प्रकट होने पर मानो सम्पूर्ण आत्मा ही पलट जाता है - ऐसा प्रतिभासित होता है। अतः पर्याय अपेक्षा आत्मा अव्यापक धर्मस्वरूप है।

५. प्रश्न - मिथ्यात्व तो अनादिकाल से है और क्षाधिक सम्यक्त्व अनन्त काल तक रहेगा तो एक पर्याय को दूसरी पर्यायों में व्यापक क्यों न माना जाए?

उत्तर - उपर्युक्त कथन प्रवाह अपेक्षा से किया गया है। अनादि काल से श्रद्धा गुण की प्रत्येक समय की पर्यायों में मिथ्यात्व उत्पन्न हो रहा है। अतः प्रवाह अपेक्षा उसे अनादि का कहा जाता है। क्षाधिक सम्यक्त्व भी प्रति समय अनन्त काल तक नया-नया होता रहेगा, अतः उसे अनन्त कहा जाता है। यह बात अन्य सभी पर्यायों में यथायोग्य समझ लेनी चाहिए।

६. प्रश्न - भावनय, द्रव्यनय और सामान्यनय में क्या अन्तर है?

उत्तर - यह भगवान आत्मा भावनय से वर्तमानपर्यायरूप प्रतिभासित होता है, द्रव्यनय से भूत-भावीपर्यायरूप से प्रतिभासित होता है और इस सामान्यनय से भूत, वर्तमान और भविष्य - इन तीनों काल की पर्यायों में व्याप्त प्रतिभासित होता है।

सामान्यनय से अर्थात् द्रव्य-अपेक्षा आत्मा सर्वपर्यायों में व्याप्त है, पर विशेषणय से अर्थात् पर्याय-अपेक्षा आत्मा सर्वपर्यायों में व्याप्त नहीं है, इसलिए यह कहा जाता है कि यह आत्मा सामान्यनय से व्यापक है और विशेषणय से अव्यापक है।

७. प्रश्न - प्रथम द्रव्यनय और इस सामान्यनय में क्या अन्तर है?

उत्तर - प्रथम द्रव्यनय आत्मा को चिन्मात्र देखता है, गुण-पर्यायों में व्यापकता उसका विषय नहीं। वह सामान्यनय का विषय नहीं। इसीप्रकार पर्यायनय का विषय गुण-पर्याय के भेदमात्र है, उनकी अव्यापकता नहीं। उनकी परस्पर अव्यापकता विशेषणय का विषय है।

(१८-१९)

### नित्यनय और अनित्यनय

“आत्मद्रव्य नित्यनय से नट की भाँति अवस्थायी है और अनित्यनय से राम-रावण की भाँति अनवस्थायी है।”

१. जैसे कोई कलाकार राम-रावण, गुलिस-अपराधी आदि अनेक स्वांग धारण करने पर उस स्वांग रूप नहीं होता, वह व्यक्ति तो वही का वही रहता है, उसीप्रकार भगवान आत्मा भी नर-नारकादि स्वांग धारण करने पर भी नहीं बदलता, आत्मा तो वही का वही, वैया ही रहता है। आत्मा की यह योग्यता ही नित्य धर्म है और उसे जाननेवाला ज्ञान नित्यनय है।

‘नवतत्त्वातत्त्वेऽपि यदेकत्वं न मुञ्चति’ (समयसार कलशा ७)

इस पंक्ति में आत्मा की नित्यता दिखाई गई है।

२. नित्य रहकर भी आत्मा किसी न किसी पर्याय (स्वांग) में अवश्य रहता है और ये स्वांग नित्य नहीं है, ये बदलते रहते हैं। स्वांग बदलने की यह योग्यता ही अनित्य धर्म है और इसे जानने वाला ज्ञान अनित्यनय है।

३. प्रवचनसार, गाथा ११४ की टीका में आत्मा की नित्यता और अनित्यता समझाई गई है। वहाँ पर्यायों परस्पर भिन्न हैं (अव्यापक) हैं और द्रव्य उनसे तन्मय (अनन्य) होने से अन्य-अन्य है - इसप्रकार द्रव्य को पर्यायदृष्टि से अनित्य कहा गया है।

४. प्रवचनसार, गाथा ११६ में भी कोई पर्याय शाश्वत नहीं है - ऐसा कहकर अनित्यता बताई गई है।

(२०-२१)

### सर्वागतनय और असर्वागतनय

“आत्मद्रव्य सर्वागतनय से खुली हुई आँख की भाँति सर्वावर्ती (सबमें व्याप्त होनेवाला) है असर्वागतनय से बन्द आँख की भाँति अपने में रहनेवाला है।”

१. नय क्रमांक २०-२५ में ज्ञान और ज्ञेय सम्बन्धी चर्चा है। ज्ञान लोकालोक को जानता है। अतः जानने की अपेक्षा सर्वागत है, परन्तु अपने असंख्य प्रदेशों में ही रहता है, इसलिए असर्वागत है।

२. ‘सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानन्द रसलीन’ इस पंक्ति में इन दोनों नयों का सहज प्रयोग हो गया है।

३. अपने असंख्य प्रदेशों में रहकर लोकालोक को जानने की योग्यता सर्वागतधर्म है और इसे जाननेवाला ज्ञान सर्वागतनय है। लोकालोक को जानते हुए भी उनसे भिन्न रहने की योग्यता असर्वागत धर्म है और इसे जानने वाला ज्ञान असर्वागतनय है।

४. अन्यमत में विष्णु को सर्वव्यापी कहा गया है, परन्तु आत्मा अपने ज्ञान द्वारा लोकालोक में व्याप्त होता है अर्थात् मात्र जानता है - यही उसका सर्वागतधर्म है। प्रवचनसार गाथा २३ में भी इसी अपेक्षा को सर्वागत कहा गया है।

५. इन दोनों नयों को जानने से ज्ञान का स्वरूप ज्ञान होता है कि वह समस्त ज्ञेयों को जानते हुए भी अपने प्रदेशों में ही रहता है।

(२२-२३)

### शून्यनय और अशून्यनय

“आत्मद्रव्य शून्यनय से खाली घर की भाँति अकेला

(अभिलित) भासित होता है और अशून्यनय से लोगों से भरे हुए जहाज की भाँति मिलित भासित होता है।”

१. पिछले जोड़े में ज्ञान की प्रधानता से कथन किया गया था और यहाँ ज्ञेयों की प्रधानता से कथन किया गया है।

२. सम्पूर्ण ज्ञेयों को जानते हुए भी आत्मा में किसी भी ज्ञेय का प्रवेश न हो - ऐसी योग्यता को शून्यनय कहते हैं तथा इसे जाननेवाले ज्ञान को शून्यधर्म कहते हैं।

३. ज्ञान में ऐसी योग्यता है कि उसमें ज्ञेय झलके इस योग्यता को अशून्य धर्म कहते हैं और जाननेवाला ज्ञान अशून्यनय कहलाता है।

“केवल्य कला में उमड़ पड़ा सम्पूर्ण विश्व का ही वैभव” - इस पंक्ति में अशून्यनय का प्रयोग झलक रहा है।

४. अशून्यनय ज्ञान द्वारा ज्ञेयों को जानने की योग्यता बताता है और शून्यनय ज्ञान की ज्ञेयों से अत्यन्त भिन्नता बताता है।

(२४-२५)

### ज्ञान-ज्ञेय अद्वैतनय और ज्ञान-ज्ञेय द्वैतनय

“आत्मद्रव्य ज्ञान-ज्ञेय अद्वैतनय से महान ईश्वर समूह्रूप परिणत अग्नि की भाँति एक है और ज्ञान-ज्ञेय द्वैतनय पर के प्रतिबिम्बों से संयुक्त दर्पण की भाँति अनेक हैं।”

१. आत्मा में ऐसी योग्यता है कि वह ज्ञेयों को जानकर उनसे भिन्न रहते हुए भी ज्ञेय को जाननेवाली पर्याय अर्थात् ज्ञेयाकार ज्ञान में तन्मय रहकर परिणम - इस योग्यता को ही ज्ञान-ज्ञेय अद्वैत धर्म कहते हैं और इसे जाननेवाला ज्ञान, ज्ञान-ज्ञेय अद्वैतनय कहा जाता है।

२. यहाँ ज्ञेयाकार ज्ञान को ही उपचार से ज्ञेय कहकर आत्मा को उनसे अभिन्न कहा जा रहा है।

अ. “ज्ञेयाकार ज्ञान में भी कलाकार ज्ञान है।”

ब. “जो कुछ झलकता ज्ञान में वह ज्ञेय नहीं बस ज्ञान है।”

उपर्युक्त दोनों पंक्तियों में ज्ञान-ज्ञेय अद्वैतनय का ही प्रयोग झलक रहा है।

३. आत्मा में ऐसी योग्यता है कि उसमें ज्ञेय प्रतिबिम्बित होते हुए भी वह ज्ञेयों से भिन्न रहता है - यह योग्यता ही ज्ञान-ज्ञेय द्वैतधर्म कही जाती है तथा इसे जाननेवाला ज्ञान, ज्ञान-ज्ञेय द्वैतनय कहा जाता है।

“प्रतिबिम्बित पूरी ज्ञेयावलि, पर चिन्मयता को आँच नहीं”

इस पंक्ति में पूर्वार्ध में अशून्यनय और उत्तरार्ध में ज्ञान-ज्ञेय द्वैतनय का प्रयोग झलक रहा है।

ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्धी छहों नयों के स्वरूप और उन्हें जानने से होने वाले लाभ के सम्बन्ध में डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा परमभाव प्रकाशक नयचक्र पृष्ठ ३१३ पर व्यक्त किये गये निम्नलिखित विचार दृष्टव्य हैं

“ संक्षेप में कहा जा सकता है कि यह भगवान आत्मा ज्ञेयों को जानता तो है, पर न तो ज्ञान ज्ञेयों में आता है और न ज्ञेय ज्ञान में ही आते हैं। दोनों अपने-अपने स्वभाव में सीमित रहने पर भी ज्ञान जानता है और ज्ञेय जानने में आते हैं। ज्ञाता भगवान आत्मा और ज्ञेय लोकालोकरूप सर्व पदार्थों का यही स्वभाव है।

ज्ञाता भगवान आत्मा के उक्त स्वभाव का प्रतिपादन करना ही उक्त छह नयों का प्रयोजन है।

ज्ञेयों को सहजभाव से जानना भगवान आत्मा का सहज स्वभाव है। अतः न तो हमें पर-पदार्थों को जानने की आकुलता ही करना चाहिए और न नहीं जानने का हठ ही करना चाहिए; पर्यायात योग्यतानुसार जो ज्ञेय ज्ञान में सहजभाव से ज्ञात हो जावें, उन्हें वीतराग भाव से जान

लेना ही उचित है; अन्य कुछ विकल्प करना उचित नहीं है; आकुलता का कारण है।

आत्मा के इस सहजज्ञानस्वभाव को ही ये छह नय अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं।”

(२६-२७)

### नियतिनय और अनियतिनय

“आत्मद्रव्य नियतिनय से जिसकी ऊष्णता नियमित (नियत) होती है - ऐसी अग्नि की भाँति नियतस्वभावरूप भासित होता है और अनियतरूप से जिसकी ऊष्णता नियति (नियम) से नियमित नहीं है - ऐसे पानी की भाँति अनियत स्वभावरूप भासित होता है।”

१. नय क्रमांक २६ से ३३ तक ४ नय युगलों द्वारा कार्योत्पत्ति में कारणभूत ५ समवायों का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। इस नय-युगल में द्रव्य-स्वभाव और पर्यायस्वभाव के रूप में स्वभाव नामक समवाय का स्वरूप स्पष्ट किया गया है।

२. अग्नि की ऊष्णता की भाँति आत्मा में ऐसी योग्यता है कि वह त्रिकाल एक रूप चैतन्य स्वभाव में रहे इस योग्यता का नाम नियति धर्म है और इसे जानने वाला ज्ञान नियतिनय है। परमपारिणामिक भाव आत्मा का नियत स्वभाव होने से श्रेष्ठ और ध्येय है। यदि आत्मा में यह नियत स्वभाव न होता तो उसका सर्वनाश हो जाता।

३. पानी की ऊष्णता के समान आत्मा में ऐसी योग्यता है कि वह पर्याय में कर्मोदय की सन्निधि में रागादि विकार रूप परिणमन करें - इसी योग्यता को अनियति धर्म कहते हैं और इसे जानने वाला ज्ञान अनियतिनय है।

४. एकमात्र परमपारिणामिकभाव ही आत्मा का नियतस्वभाव है तथा औपशामिकादि चार भाव अनियत स्वभावरूप योग्यता से होते हैं, क्योंकि वे सदा एक से नहीं रहते।



५. यह अनियत स्वभाव ही पाँच समवायों में स्वभाव नामक समवाय जानना चाहिए। त्रिकाली स्वभाव सामान्य कारण है और क्षणिक स्वभाव समर्थ कारण है, औपशमिकादि चार भाव कार्य हैं जिसे भवितव्य या होनहार भी कह सकते हैं। वह पर्याय त्रिकाली प्रवाह क्रम का समयवर्ती अंश होने से स्वकाल है। उन पर्यायों की उत्पत्ति में प्रयुक्त होने वाला वीर्य पुरुषार्थ है तथा निमित्त अनुकूल बाह्य पदार्थ है।

६. पर्याय स्वभाव को अनियत कहने का आशय पर्यायों की परिवर्तनशीलता से है न कि उनके क्रम की अनिश्चितता से है। पर्यायों का क्रम अर्थात् उनके प्राट होने का स्वकाल तो सुनिश्चित ही है। उनमें कब कैसा परिवर्तन होगा - यह सब सुनिश्चित है। इस प्रकार अनियत स्वभाव और क्रमबद्धपर्याय में कोई विरोध नहीं है।

(२८-२९)

### स्वभावनय और अस्वभावनय

“आत्मद्रव्य स्वभावनय से जिनकी नोंक किसी के द्वारा नहीं निकाली जाती - ऐसे पैने काँटे की भाँति संस्कारों को निरर्थक करनेवाला है और अस्वभावनय से, जिनकी नोंक लुहार के द्वारा संस्कार करके निकाली गई है, ऐसे पैने बाणों की भाँति संस्कारों को सार्थक करनेवाला है।”

१. आत्मा के त्रिकाली स्वभाव में ऐसी योग्यता है जिसे संस्कारों अर्थात् प्रयत्नों द्वारा बदला नहीं जा सकता अर्थात् वह संस्कारों को निरर्थक करती है - इस योग्यता को स्वभाव धर्म कहते हैं और इसे जाननेवाला ज्ञान स्वभावनय कहलाता है।

२. इसीप्रकार आत्मा के पर्यायस्वभाव की ऐसी योग्यता है कि उसे संस्कारित किया जा सकता है अर्थात् जो पर्याय होनेवाली है उसके अनुकूल प्रयास भी किये जाते हैं - इस योग्यता को अस्वभाव धर्म कहते हैं और इसे जाननेवाला ज्ञान अस्वभावनय कहलाता है।

३. किसी भी वस्तु का मूल स्वभाव बदला नहीं जा सकता। चेतन कभी जड़ नहीं हो सकता, जड़ कभी चेतन नहीं हो सकता, भव्य कभी अभव्य नहीं हो सकता, अभव्य कभी भव्य नहीं हो सकता। बुन्देलखण्ड की एक कहावत प्रसिद्ध है - जी को जाने स्वभाव जाय ना जी से, नीम न मीठी होय खाओ गुड़ घी से।

४. मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि होकर सिद्ध बन सकता है, यह अस्वभाव धर्म का ही स्वरूप है।

५. अस्वभाव अर्थात् संस्कारों की सार्थकता करने वाला धर्म, यह भी योग्यतारूप होने से स्वभाव रूप है फिर भी त्रिकाली स्वभाव से भिन्न बताने के लिए इसे अस्वभाव धर्म कहा गया है। अर्थात् यह अस्वभाव नामक स्वभाव है।

६. एक द्रव्य पर किसी अन्य द्रव्य का प्रभाव पड़ने की बात तो दूर रही, द्रव्य का मूल स्वभाव अपनी मलिन और निर्मल पर्यायों से भी प्रभावित नहीं होता, यही स्वभाव की योग्यता है।

७. पर्यायों को संस्कारित किया जा सकता है - इसका अर्थ यह नहीं है कि उनमें परिवर्तन किया जा सकता है, पर्यायों तो अपने सुनिश्चित क्रम में ही होती हैं, जो पर्याय जब होती है तब उसके अनुरूप बाह्य प्रयत्न भी होता है जिसे संस्कार कहा जा सकता है।

(३०-३१)

### कालनय और अकालनय

“आत्मद्रव्य कालनय से गर्मी के दिनों के अनुसार पकनेवाले आम्रफल के समान समय पर आधार रखनेवाली सिद्धिवाला है और अकालनय से कृत्रिम गर्मी में पकाये गये आम्रफल के समान समय पर आधार नहीं रखनेवाली सिद्धिवाला है।”

भगवान आत्मा में कार्य की सिद्धि समय पर आधारित हो अर्थात् समय की मुख्यता से हो - ऐसी योग्यता है जिसे काल धर्म कहते हैं और काल के अतिरिक्त अन्य समवायों की प्रधानता से कार्य सिद्धि की योग्यता वाला है, जिसे अकाल धर्म कहते हैं। इन दोनों धर्मों को जानने वाला ज्ञान कालनय और अकालनय कहलाता है।

१. कालनय के लिये डाली पर प्राकृतिकरूप से पकने वाले आम का उदाहरण दिया गया। यद्यपि उसमें भी वृक्ष को सींचना खाद आदि देना इत्यादि प्रयत्न किये जाते हैं पर इन्हें गौण करके काल की मुख्यता से कहा जाता है कि आम अपने समय में ही पका है।

२. अकालनय को समझने के लिए कृत्रिम गर्मी से पकाने वाले आम का उदाहरण दिया गया है। कृत्रिम गर्मी में रखे गये आम एक साथ नहीं पकते, आगे-पिछे पकते हैं। इससे सिद्ध होता है कि कृत्रिम गर्मी सभी आमों को एक जैसी मिलने पर भी अपनी-अपनी योग्यतानुसार अपने-अपने स्वकाल में सभी आम पकते हैं। परन्तु निमित्त को मुख्य करके और काल को गौण करके कहा जाता है कि आम गर्मी से पके - यही अकालनय का कथन है।

३. अकाल से आशय समय से पहले कार्य हो गया - ऐसा नहीं है। अन्य समवायों को काल से भिन्न अकाल शब्द से सम्बोधित किया गया है। जरा विचार करें! समय से पहले का क्या अर्थ है? जब भी कार्य होगा तब कोई न कोई समय तो होगा ही। तो फिर वह समय पर ही हुआ क्यों न माना जाए? हमने अपनी कल्पना में उस कार्य का कोई समय निर्धारित कर रखा था उस अपेक्षा हम उसे समय से पहले या विलम्ब से हुआ कह देते हैं। इस प्रकरण पर विशेष जानकारी के लिए ज्ञान स्वभाव ज्ञेय स्वभाव, क्रमबद्धपर्याय निर्देशिका आदि ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए।

४. कोई कार्य स्वकाल में हो और कोई कार्य आगे-पीछे होते हो - ऐसा नहीं है। एक ही कार्य में काल की मुख्यता से कालनय

और अन्य समवायों की मुख्यता से अकालनय घटित होता है।

(३२-३३)

पुरुषकारनय और दैवनय

“आत्मद्रव्य पुरुषकारनय से, जिसे पुरुषार्थ द्वारा नीबू का वृक्ष या मधुलता प्राप्त होता है - ऐसे पुरुषार्थवादी के समान यत्नसाध्य सिद्धिवाला है, और दैवनय से जिसे पुरुषार्थवादी द्वारा नीबू का वृक्ष या मधुलता प्राप्त हुआ और उसमें से जिसे बिना प्रयत्न के ही अचानक माणिक्य प्राप्त हो गया है - ऐसे दैववादी के समान अयत्नसाध्य सिद्धिवाला है।”

१. भगवान आत्मा की दुःखों से मुक्ति यत्नसाध्य है या अयत्नसाध्य - इस प्रश्न का उत्तर इन नयों के द्वारा दिया गया है।

२. भगवान आत्मा में अन्तर्मुखी पुरुषार्थ द्वारा मुक्ति प्राप्त करने की योग्यता को पुरुषकार धर्म कहते हैं और उसी समय कर्मक्षय का नैमित्तक कार्य होने की योग्यता है जिसे दैवधर्म कहते हैं। इन दोनों धर्मों को जाननेवाला ज्ञान पुरुषकारनय और दैवनय कहलाता है।

३. इन दोनों धर्मों को अलग-अलग उदाहरणों से इष्ट संयोग के सन्दर्भ में समझाया गया है। परन्तु सिद्धान्त में एक ही कार्य में दोनों नय घटित होते हैं। क्षपक श्रेणी के पुरुषार्थ से केवलज्ञान होता है - ऐसा कहना पुरुषकारनय का कथन है और ज्ञानावरणिकर्म के क्षय से केवलज्ञान होता है - ऐसा कहना दैवनय का कथन है। इस सन्दर्भ में नयप्रज्ञापन पृष्ठ २१५-२१६ (गुजराती) में व्यक्त किए गए पूज्य गुरुदेव का निम्नलिखित चिन्तन ध्यान देने योग्य है -

“किसी को पुरुषार्थ से मुक्ति प्राप्त हो और किसी को दैव (भाग्य) से - इसप्रकार भिन्न-भिन्न आत्माओं की यह बात नहीं है। प्रत्येक आत्मा में ये दोनों ही धर्म एकसाथ रहते हैं। अतः दैवनय के साथ अन्य नयों

की विवक्षा का ज्ञान भी होना चाहिए, तभी दैवनय का ज्ञान सच्चा कहा जायेगा।”

पुरुषार्थ से मुक्ति हुई - यह न कहकर कर्मों के टलने से मुक्ति हुई अथवा दैव से मुक्ति हुई - यह कहना दैवनय है, परन्तु उसमें भी चैतन्यस्वभाव के पुरुषार्थ का स्वीकार तो साथ में है ही।

जिस जीव को स्वभावसन्मुखता का पुरुषार्थ होता है, उसका भाग्य भी ऐसा ही होता है कि कर्म भी टल जाते हैं, कर्मों को टलने के लिए अलग से पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता। इसी स्थिति में यह अपेक्षा ग्रहण करना कि कर्मों के टलने से मुक्ति हुई - दैवनय का कथन है।

४. यद्यपि यहाँ मुक्ति रूपी कार्य की चर्चा है तथापि बाह्य संयोग-वियोग के बारे में भी इन नयों का प्रयोग समझना चाहिए। बाह्य संयोगों की प्राप्ति के लिए किए गए योग-उपयोगत्मक प्रयत्न को व्यवहार से पुरुषार्थ कहते हैं परन्तु उससे इष्ट संयोग की प्राप्ति होने का कोई नियम नहीं है। संयोगों की प्राप्ति उदयाधीन हैं।

**पापोदय में चाह व्यर्थ है, नहीं चाहने पर भी हो।**

**पुण्योदय में चाह व्यर्थ है, सहजपने मनवांछित हो।।**

उक्त पंक्तियों में संयोग-वियोग में कर्मोदय की प्रधानता बताई गई है।

५. बाह्य पदार्थों के संयोग-वियोग में उपादान कारण तो वे उन पदार्थों की तत्समय की योग्यता ही है अतः पुरुषार्थ भी उन पदार्थों का उनमें ही है। हमारा प्रयत्न उन कार्यों में निमित्त मात्र है जिसे उपचार से पुरुषार्थ कहते हैं। हम तो मात्र अपने प्रयत्नरूप कार्य का विकल्पात्मक पुरुषार्थ करते हैं।

६. पद्मपुराण में समागत शम्भूकुमार द्वारा सूर्य हास खड्ग की प्राप्ति के लिए किये गए प्रयत्न की घटना का वर्णन है। मन्त्र सिद्धि की शम्भूकुमार ने, परन्तु उसका प्रयत्न निरर्थक हुआ, किन्तु लक्ष्मण

बिना किसी प्रयत्न के बिना किसी प्रयास के प्रधानमंत्री बन गए और अनेक प्रयत्न करने वाले लोग नहीं बन पाए।

७. वर्तमान शुभाशुभ भावों द्वारा बाँधे गए पुण्य-पाप कर्म आगामी संयोग-वियोग में दैव या भाग्य बनकर उदय में आते हैं।

नय क्रमांक २६ से ३३ तक कहे गए चारों जोड़ों का आत्महित में योगदान का विवेचन माननीय डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल ने परमभाव प्रकाशक नयचक्र पृष्ठ ३२४ पर किया है, जो इस प्रकार है -

“जब कार्य होता है, तब ये पाँचो ही समवाय नियम से होते ही हैं और उसमें उक्त आठ नयों के विषयभूत आत्मा के आठ कर्मों का योगदान भी समान रूप से होता ही है। तात्पर्य यह है कि आत्मा की सिद्धि के सम्पूर्ण साधन आत्मा में ही विद्यमान हैं, उसे अपनी सिद्धि के लिए यहाँ-वहाँ झाँकने की या भटकने की आवश्यकता नहीं है।”

वस्तुस्थिति यह है कि जब परमपारिणामिक भावरूप नियतस्वभाव के आश्रय से यह भगवान आत्मा अपने पर्याररूप अनियतस्वभाव को संस्कारित करता है, तब स्वकाल में कर्मों का अभाव होकर मुक्ति की प्राप्ति होती ही है। तात्पर्य यह है कि परमपारिणामिक भावरूप त्रिकाली ध्रुव आत्मा को केन्द्र बनाकर जब श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र परिणमित होते हैं, जब ज्ञानावरणादिक कर्मों का अभाव होकर अनन्तसुखस्वरूप सिद्धदशा प्रगट हो जाती है और इसमें ही उक्त आठ कर्म या आठ नय व पंच समवाय समाहित हो जाते हैं।

(३४-३५)

**ईश्वरनय और अनीश्वरनय**

“आत्मद्रव्य ईश्वरनय ये धाय की तुकान पर दूध पिलाये जानेवाले राहगीर के बालक के समान परतन्त्रता को भोगनेवाला है और अनीश्वरनय से हिरण को स्वच्छंदता पूर्वक फाड़कर खा जाने वाले सिंह के समान स्वतन्त्रता को भोगने वाला है।”

१. आत्मा में स्वयं पराधीनता भोगने की योग्यता है जिसे ईश्वर धर्म कहा जाता है और उसमें स्वयं स्वाधीनता भोगने की योग्यता है जिसे अनीश्वर धर्म कहते हैं। इन दोनों धर्मों को जाननेवाले ज्ञान को ईश्वरनय और अनीश्वरनय कहते हैं।

२. यहाँ ईश्वर धर्म का प्रयोग बड़ा विचित्र और दुर्लभ लगता है। ईश्वर शब्द का अर्थ तो ऐश्वर्य को भोगनेवाला अथवा सर्व शक्तिमान स्वाधीन सुपर पावर के रूप में जाना जाता है, परन्तु यहाँ उसे पराधीनता भोगने की योग्यता के रूप में कहा जा रहा है। इसमें यही दृष्टिकोण हो सकता है कि यह जीव अपने स्वाधीन स्वभाव को भूलकर पराधीनता भोगता है, अर्थात् पर-पदार्थ को अपना ईश्वर बना लेता है अतः यह योग्यता ईश्वर धर्म कही गई है।

३. यह बात ध्यान देने योग्य है कि आत्मा में स्वयं पराधीनता भोगने की योग्यता है जिसके कारण वह पराधीनता भोगने में स्वतन्त्र है। धर्मास्तिकाय आदि अन्य द्रव्यों में ऐसी योग्यता नहीं है।

४. वस्तुतः कोई द्रव्य पराधीन हो नहीं सकता। आत्मा भी पराधीन नहीं होता, अपितु विकारी परिणमन में पराधीनता भोगता है।

५. पराधीन होने की योग्यता से सिद्ध होता है कि द्रव्यकर्म जबर्दस्ती आत्मा को विकार नहीं कराते उसमें स्वयं पराधीन होकर विकार करने की योग्यता है।

६. कैसा भी संयोग हो, कैसा भी कर्मोदय हो, आत्मा अपने स्वरूप का लक्ष्य करके अतीन्द्रिय आनन्द भोगने में स्वतन्त्र हैं। वह स्वयं ही अपना ईश्वर है, अन्य कोई उसका ईश्वर नहीं है, इसलिए इस योग्यता को अनीश्वर धर्म कहा गया है।

७. ईश्वर और अनीश्वर ज्ञानी जीव पर किस प्रकार लागू होते हैं, इसका बहुत सुन्दर स्पष्टीकरण पूज्य गुरुदेव नयप्रज्ञापन (गुजराती) पृष्ठ २३३ पर इस प्रकार करते हैं :-

“पर्याय में राग-द्वेष होने से जितनी पराधीनता है, उसका ज्ञान धर्मी जीव को रहता है, पर उसी समय अन्तर्दृष्टि में आत्मा की स्वाधीन प्रभुता का ज्ञान भी रहता है, क्योंकि ईश्वरनय के समय अनीश्वरनय की अपेक्षा भी साथ ही है। जहाँ अपने द्रव्यस्वभाव की त्रिकाली ईश्वरता से चूके बिना मात्र पर्याय की पराधीनता सम्बन्धी ईश्वरता पर को देता है, वहाँ तो ईश्वरनय सच्चा है; परन्तु जो स्वभाव की ईश्वरता को भूलकर मात्र पर को ही ईश्वरता प्रदान करे, वह ईश्वरनय भी सच्चा नहीं है, वह तो पर्याय में ही मूढ़ होने से मिथ्यादृष्टि है।”

(३६-३७)

### गुणीनय और अगुणीनय

“आत्मद्रव्य गुणीनय से शिक्षक द्वारा शिक्षा प्राप्त करनेवाले कुमार के समान गुणग्राही है, और अगुणीनय से शिक्षक के द्वारा शिक्षा प्राप्त करने वाले कुमार को देखनेवाले प्रेक्षक पुरुष के समान केवल साक्षी है।”

१. भगवान आत्मा में उपदेश ग्रहण करने की योग्यता है, जिसे गुणीधर्म कहते हैं और उपदेश से प्रभावित न होकर उसे मात्र जानने की योग्यता है, जिसे अगुणीधर्म कहा गया है। इन दोनों धर्मों को जाननेवाला ज्ञान गुणीनय और अगुणीनय कहा गया है।

२. ये दोनों धर्म भी उपदेश ग्रहण करने अथवा न करने की योग्यता बताकर आत्मा की पर्याय की स्वतन्त्रता की घोषणा करते हैं। हम किसी का उपदेश मानें या ना मानें इसके लिए हम स्वतन्त्र हैं, कोई हमें बाध्य नहीं कर सकता।

(३८-३९)

### कर्तुनय और अकर्तुनय

“आत्मद्रव्य कर्तुनय से रंगरेज के समान रागादि परिणाम का कर्ता है और अकर्तुनय से अपने कार्य में प्रवृत्त रंगरेज

## को देखने वाले पुरुष की भाँति केवल साक्षी है।”

१. आत्मा अपने रागादि परिणामों को स्वयं अपनी योग्यता से करे - ऐसी योग्यता वाला है, जिसे कर्तृधर्म कहते हैं और उसी समय उसका स्वभाव रागादिरूप नहीं होने की योग्यता भी रखता है जिसे अकर्तृधर्म कहते हैं। इन दोनों धर्मों को जाननेवाला ज्ञान कर्तृनय और अकर्तृनय कहलाता है।

२. समयसार में रागादि में एकत्व बुद्धि को कर्तृत्व कहा है, परन्तु यहाँ “यः परिणमति स कर्ता” इस परिभाषा के अनुसार ज्ञानी को भी राग का कर्ता बताया जा रहा है। भेदज्ञान होने से वह अकर्ता तो है ही। अतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञानी दृष्टि की अपेक्षा रागादि भावों का अकर्ता है और ज्ञान की अपेक्षा उनका कर्ता। इस प्रकार भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से दोनो धर्म एक साथ सिद्ध होते हैं।

३. अज्ञानी को भी भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से कर्ता-अकर्ता देखा जा सकता है। यद्यपि अज्ञानी को नय नहीं होते तथापि ज्ञानी उसे नयदृष्टि से जानता है। रागादि रूप परिणमता है ही, एकत्व बुद्धि भी कर रहा है। अतः श्रद्धा-ज्ञान दोनो अपेक्षाओं से रागादि का कर्ता है, किन्तु उसी समय पर अशुद्धनय की दृष्टि से वह रागादि को छूटा हुआ भी नहीं है, अतः अकर्ता है।

४. समयसार, गाथा ३२० में आत्मा को आँख के समान रागादि सभी पर्यायों का अकर्ता अथवा मात्र ज्ञाता कहा है, यह कथन भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से ज्ञानी-अज्ञानी सभी जीवों पर लागू होता है।

५. अगुणीनय में आत्मा को मात्र उपदेश का साक्षी कहा था। यहाँ अपने में होने वाले रागादि का साक्षी कहा गया है और अभोक्तृत्वनय से अपने सुख-दुःख का साक्षी कहा गया है। उसका स्वभाव तो सभी पदार्थों को साक्षी भाव से मात्र जानने का ही है।

(४०-४१)

## भोक्तृत्वनय और अभोक्तृत्वनय

“आत्मद्रव्य भोक्तृत्वनय से हितकारी-अहितकारी अन्न को खानेवाले रोगी के समान सुख-दुःखादि का भोक्ता है और अभोक्तृत्व नय से हितकारी-अहितकारी अन्न को खानेवाले रोगी को देखनेवाले वैद्य के समान केवल साक्षी ही है।”

१. भगवान आत्मा में ऐसी योग्यता है कि वह अपनी भूल से अपने में उत्पन्न होने वाले सुख-दुःख एवं हर्ष शोक को भोगे अर्थात् वेदन करे, जिसे भोक्तृत्व धर्म कहते हैं और एक ऐसी योग्यता भी है, जिससे वह अपने में उत्पन्न होने वाले सुख-दुःख एवं हर्ष-शोक को भोगता नहीं है, मात्र साक्षी भाव से जानता देखता है। इस योग्यता को अभोक्तृत्व धर्म कहते हैं। इन दोनों धर्मों को जानने वाला ज्ञान भोक्तृत्वनय और अभोक्तृत्वनय है।

२. कर्तृत्वनय और अकर्तृत्व में घटित होने वाली सभी विवक्षायें यहाँ भी समझ लेना चाहिए, क्योंकि कर्तापन और भोक्तापन एक साथ रहते हैं।

३. ज्ञानी को भी चारित्र की कमजोरी के कारण पुण्य-पाप के उदय में सुख-दुःख का वेदन होता है तो भी उस सुख-दुःख को पराश्रित परिणाम जानकर अपने स्वरूप को उससे भिन्न ही जानता है। यह भेद ज्ञान ही साक्षी भाव है, जिसके बल से वह सुख-दुःख को भोगते समय भी उनका ज्ञाता ही रहता है।

४. गुणी-अगुणी, कर्तृ-अकर्तृ तथा भोक्तृ-अभोक्तृ - इन छहों नयों के माध्यम से आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए डॉ. भारिल्ल नयचक्र पृष्ठ ३३२ पर लिखते हैं - भगवान आत्मा गुणीनय से गुणग्राही है अर्थात् उपदेश को ग्रहण करनेवाला है और अगुणीनय से गुणग्राही नहीं है मात्र साक्षी भाव से देखने-जाननेवाला है; कर्तृनय से अपने आत्मा

में उत्पन्न होनेवाले रागादिभावों का कर्ता है और अकर्तृनय से उनका कर्ता नहीं है, मात्र साक्षीभाव से देखने-जाननेवाला है। इसीप्रकार भोक्तृनय से अपने में उत्पन्न सुख-दुःख का भोक्ता है और अभोक्तृनय से अपने-उत्पन्न सुख-दुःख का भी भोक्ता नहीं है, मात्र साक्षीभाव से जानने-देखनेवाला है।”

(४२-४३)

### क्रियानय और ज्ञाननय

“आत्मद्रव्य क्रियानय से खम्भे से टकराने से सिर फूट जाने पर दृष्टि उत्पन्न होकर, जिसे निधान मिल गया है - ऐसे अन्धे के समान अनुष्ठान की प्रधानता से सधनेवाली सिद्धिवाला है और ज्ञाननय से मुट्ठी भर चने देकर चिन्तामणि रत्न खरीदनेवाले घर के कोने में बैठे हुए व्यापारी के समान, विवेक की प्रधानता से सधनेवाली सिद्धिवाला है।”

१. भगवान आत्मा में अनुष्ठानपूर्वक कार्यसिद्धि की योग्यता है, जिसे क्रिया धर्म कहते हैं और ज्ञान द्वारा कार्यसिद्धि की योग्यता है, जिसे ज्ञान धर्म कहते हैं। इन दोनों को जाननेवाला ज्ञान क्रियानय और ज्ञाननय कहलाता है।

२. यहाँ क्रिया से आशय जड़ की क्रिया से नहीं है यहाँ साधकदशा में होनेवाले शुभभाव को क्रिया कहा गया है, क्योंकि वे प्रायः व्रत-शील-संयमादि बाह्य क्रिया में निमित्त होते हैं। इसी प्रकार ज्ञान से आशय रत्नत्रय रूप शुद्ध परिणति से है, मात्र बहिर्लक्ष्यी क्षयोपशम से नहीं।

३. किसी को शुभभाव से मोक्ष होता है और किसी को रत्नत्रय रूप शुद्धभाव से - ऐसा नहीं है। साधक को निश्चय रत्नत्रय के साथ यथायोग्य शुभभाव होते ही हैं। अतः क्रियानय से अनुष्ठान (शुभभाव एवं महाव्रतादि क्रिया) की प्रधानता से कथन होता है। इस सम्बन्ध में न्यप्रज्ञापन

(गुजराती) पृष्ठ २७५ पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा किया गया स्पष्टीकरण इसप्रकार है -

“यहाँ प्रधानता शब्द का प्रयोग क्रिया गया है, जो यह बताता है कि गौणरूप से दूसरा कारण भी विद्यमान है। क्रियानय में अनुष्ठान की प्रधानता कही है अर्थात् शुभभाव की प्रधानता कही है, उसमें से भी यही अर्थ निकलता है कि गौणरूप से उसीसमय सत्यज्ञान रूप विवेक भी विद्यमान है।

शुभराग की प्रधानता से सिद्धि होती है - जब क्रियानय से इसप्रकार कहा जाता है, तब उसीसमय यह ज्ञान भी साथ में रहता है कि उसी काल में गौणरूप में अन्तर में शुद्धता भी विद्यमान है। ऐसा ज्ञान अन्तर में रहे, तभी क्रियानय सच्चा कहा जाता है।”

(४४-४५)

### व्यवहारनय और निश्चयनय

“आत्मद्रव्य व्यवहारनय से अन्य परमाणु के साथ बँधने वाले एवं उससे छूटने वाले परमाणु के समान बन्ध और मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करने वाला है और निश्चयनय से बन्ध और मोक्ष के योग्य स्निग्ध और रूक्ष गुण रूप से परिणित बध्यमान और मुख्यमान परमाणु के समान बन्ध और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करने वाला है।”

१. भगवान आत्मा में एक ऐसी योग्यता है जिससे उसकी बन्ध या मोक्ष पर्यायों को कर्म की सापेक्षता से देखा जा सके। इस योग्यता को व्यवहार धर्म कहते हैं और इसके विरुद्ध एक ऐसी योग्यता भी है जिससे उसकी बन्ध-मोक्ष पर्यायों को कर्म से निरपेक्ष देखा जा सके। इस योग्यता को निश्चय धर्म कहते हैं। इन दोनों धर्मों को जानने वाला ज्ञान व्यवहारनय और निश्चयनय कहलाता है।

२. यहाँ बन्ध और मोक्ष पर्यायों को कर्म की सापेक्षता से कहना व्यवहारनय कहा गया है। यद्यपि व्यवहारनय की अन्यत्र अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं तथापि यहाँ पराश्रितो व्यवहारः अथवा व्यवहार नय स्वद्रव्य-परद्रव्य को उनके भावों को तथा कारण कार्यादि को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है - यह परिभाषा यहाँ घटित हो रही है। आत्मा कर्मों से बंधा है और कर्मों से छूटा है - ऐसा कहने में परद्रव्य की अपेक्षा आती है अतः द्वैत खड़ा हो जाता है।

३. यद्यपि अभेद आत्मा में बन्ध-मोक्ष का भेद करना भी द्वैत है, परन्तु यहाँ यह विवक्षा नहीं है। यहाँ तो कर्मों से बंधने या छूटने को द्वैत कहा गया है।

४. भगवान आत्मा स्वयं अपनी योग्यता से बंधता या मुक्त होता है। परमाणु की स्निग्ध और रूक्षता के समान आत्मा में भी बंधने या छूटने की योग्यता है उसे बन्ध या मुक्ति में कर्म की अपेक्षा नहीं है। इस प्रकार बन्ध-मोक्ष को स्वाधीन देखना निश्चयनय है। प्रवचनसार गाथा १६ में आत्मा को संसार या मुक्त अवस्था में स्वयंभू कहा है।

५. बन्ध-मोक्ष में आत्मा स्वाधीन है - इस कथन में उसकी पर्यायों की स्वतन्त्रता की घोषणा की गई है। यहाँ दृष्टि के विषयभूत त्रिकाली ध्रुव आत्मा की बात नहीं है। इस सम्बन्ध में पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा नयप्रज्ञापन (गुजराती) पृष्ठ ३१२ पर व्यक्त किए गए विचार दृष्टव्य हैं -

‘यहाँ जो यह कहा जा रहा है कि निश्चयनय से आत्मा बंध-मोक्ष में अद्वैत का अनुशरण करनेवाला है, उसमें आत्मा का त्रिकाली स्वभाव जो कि दृष्टि का विषय है, वह नहीं लेना। यहाँ तो बंध-मोक्ष पर्याय में अकेला आत्मा ही परिणमता है - इसप्रकार अकेले आत्मा की अपेक्षा बंध-मोक्ष पर्याय को लक्ष्य में लेने की बात है।

बंधपर्याय में भी अकेला आत्मा परिणमित होता है और मोक्षपर्याय

में भी अकेला आत्मा ही परिणमित होता है - इस प्रकार बंध-मोक्ष पर्याय निरपेक्ष है; इसप्रकार का निश्चय आत्मा बंध एवं मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है; इसप्रकार का भगवान आत्मा में एक धर्म है।’

६. यद्यपि यहाँ बंध और मोक्ष पर्याय में द्वैत और अद्वैत धर्म घटित किए हैं तथापि जीवादि सातों तत्त्वों में पर की सापेक्षता से द्वैतपना और पर की निरपेक्षता से अद्वैतपना घटित हो सकता है।

(४६-४७)

अशुद्धनय और शुद्धनय

‘आत्मद्रव्य अशुद्धनय से घट और रामपात्र से विशिष्ट मिट्टी मात्र के समान सोपाधि स्वभाववाला है और शुद्धनय से केवल मिट्टी मात्र के समान निरपाधि स्वभाववाला है।’

१. भगवान आत्मा में औपाधिक (विकारी) भाव रूप परिणमित होने की योग्यता है जिसे अशुद्ध धर्म कहते हैं और विकारी भावरूप परिणमन होने पर भी सदा एकरूप रहने की योग्यता है जिसे शुद्धधर्म कहते हैं। इन दोनों धर्मों को जाननेवाले ज्ञान अशुद्धनय और शुद्धनय है।

२. अशुद्धधर्म पर्यायगत योग्यता है जिसे क्षणिक उपादान की योग्यता कहा जा सकता है। यह योग्यता ही आत्मा के विकारी परिणमन को द्रव्यकर्मादि पर-पदार्थों से निरपेक्ष और स्वतन्त्र सिद्ध करती है। यदि पर्याय में विकारी भावरूप परिणमने की योग्यता न होती तो अनन्त पर-पदार्थ भी आत्मा में विकार उत्पन्न नहीं करा सकते।

३. रागादि भाव आत्मा का त्रिकाली स्वभाव न होने पर भी वे पर के कारण उत्पन्न नहीं होते। आत्मा में उन्हें धारण करने की योग्यता है अर्थात् अशुद्धनय से आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है। इस सम्बन्ध में

पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा नयप्रज्ञापन पृष्ठ ३२१ पर किया गया स्पष्टीकरण इस प्रकार है :-

“यदि इसप्रकार का धर्म भगवान् आत्मा में स्वयं का नहीं होता तो अन्य अनन्त परद्रव्य इकट्ठे होकर आत्मा में विकार उत्पन्न नहीं कर सकते थे। निगोद से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक जो उपाधिभाव-विकारभाव-उदयभाव-संसारभाव होते हैं, उन्हें आत्मा स्वयं ही धारण किये रहता है, क्योंकि अशुद्धनय से आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है।”

४. यहाँ रागादि की उत्पत्ति में आत्मा के पर्यायागत स्वभाव को कारण कहा है अर्थात् यह योग्यता ही स्वभाव नामक समवाय है।

५. क्षणिक पर्याय में अशुद्धता होने पर भी आत्मा का स्वभाव निरुपाधिक और विकार रहित है। उसकी यह योग्यता शुद्धनय का विषय है।

६. यहाँ विकार होने की योग्यता के सामने त्रिकाली सामान्य स्वभावरूप रहने की योग्यता को लिया है। निर्मल पर्यायों की योग्यता के बारे में यहाँ कोई चर्चा नहीं की गई है। इसप्रकार आत्मा एक साधु शुद्ध और अशुद्ध दोनों धर्मों को धारण करता है।

इसप्रकार यहाँ अनन्त धर्मात्मक आत्मा में विद्यमान ४७ धर्मों का कथन किया। शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा को दृष्टि में लेना ही इन सभी धर्मों को जानने का फल है।

**प्रस्तुति : पं. अभयकुमार जैन, देवलाली**

## 5. श्री प्रवचनसारजी-अलिंगग्रहण के २० बोल

१. टीकार्थ-ग्राहक (ज्ञायक) जिसके लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता, वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानमय है - इस अर्थ की प्राप्ति होती है। सारांश- आत्मा इन्द्रियों के द्वारा नहीं जानता है। स्व-पर प्रकाशक ज्ञानस्वभाव स्वयं से है, इन्द्रियों से नहीं। आत्मा इन्द्रियों से जाने ऐसा ज्ञेय पदार्थ नहीं है।

२. टीकार्थ-ग्राह्य (ज्ञेय) जिसका लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता है - वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का विषय नहीं है - इस अर्थ की प्राप्ति होती है। सारांश- आत्मा इन्द्रियों के द्वारा जानने में नहीं आता। आत्मा इन्द्रियों से ज्ञात हो - ऐसा ज्ञेय पदार्थ नहीं है। आत्मा स्वज्ञान प्रत्यक्ष से ज्ञात हो - ऐसा ज्ञेय पदार्थ है।

३. टीकार्थ-जैसे धुर्ये से अग्नि का ग्रहण (ज्ञान) होता है, इसीप्रकार लिंग द्वारा अर्थात् इन्द्रियगम्य (इन्द्रियों से जानने योग्य) चिन्ह द्वारा जिसका ग्रहण नहीं होता है, वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वक अनुमान का विषय नहीं है - ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। सारांश- आत्मा इन्द्रियों के अनुमान से ज्ञात हो ऐसा ज्ञेय नहीं है।

४. टीकार्थ-दूसरों के द्वारा मात्र लिंग द्वारा ही जिसका ग्रहण नहीं होता वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा अनुमेयमात्र (केवल अनुमान से ही ज्ञात होने योग्य) नहीं है - ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। सारांश- अन्य द्वारा आत्मा केवल अनुमान से ज्ञात हो वह ऐसा प्रमेय पदार्थ नहीं है। यदि आत्मा केवल अनुमान का ही विषय हो तो वह कभी भी प्रत्यक्षज्ञान का विषय नहीं हो सकता।

५. टीकार्थ-जिसके लिंग से ही अर्थात् अनुमानज्ञान से ही पर का ग्रहण नहीं होता, वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा अनुमातामात्र (केवल अनुमान करनेवाला ही) नहीं है - ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती



है। **सारांश** - आत्मा केवल अनुमान से ही जाने, ऐसा वह ज्ञेय पदार्थ नहीं है। साधक को अनुमान के साथ आंशिक स्वसंवेदन ज्ञान प्रत्यक्ष होता है और वह बढ़कर सम्पूर्ण प्रत्यक्ष ऐसा केवलज्ञान होता है।

**६. टीकार्थ**— जिसके लिंग के द्वारा नहीं, किन्तु स्वभाव के द्वारा ग्रहण होता है वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार **आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है** — ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। **सारांश** - वर्तमान में परीक्षा ज्ञान होने पर भी मेरा स्वभाव प्रत्यक्ष ज्ञाता है। परज्ञेयों की अपेक्षा रहित, इन्द्रिय व मन के अवलम्बन रहित, स्वयं स्वयं को प्रत्यक्ष जाने ऐसा आत्मा का ज्ञाता स्वभाव है।

**७. टीकार्थ**— जिसके लिंग द्वारा अर्थात् उपयोग नामक लक्षण द्वारा ग्रहण नहीं है अर्थात् ज्ञेय पदार्थों का आलंबन नहीं है, वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार **आत्मा के बाह्य पदार्थों का आलंबन वाला ज्ञान नहीं है** — ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। **सारांश** - उपयोग को ज्ञेय पदार्थों का आलंबन नहीं है। चैतन्य लक्षण उपयोग स्व-आत्मा का अवलम्बन करता है। पर का अवलम्बन लेवे ऐसा उपयोग का स्वभाव नहीं है।

**८. टीकार्थ**— जो लिंग को अर्थात् उपयोग नामक लक्षण को ग्रहण नहीं करता अर्थात् स्वयं (कहीं बाहर से) नहीं लाता, सो अलिंगग्रहण है। इसप्रकार **आत्मा जो कहीं से नहीं लाया जाता** — ऐसे ज्ञानवाला है ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। **सारांश** - आत्मा उपयोग को कहीं बाहर से नहीं लाता है। ज्ञान उपयोग की निर्मलता एवं वृद्धि बाह्य किसी भी पदार्थों में से नहीं आती है, वह तो क्रमशः अंतर ज्ञानस्वभाव में से आती है।

**९. टीकार्थ**— जिसे लिंग का अर्थात् उपयोग नामक लक्षण का ग्रहण अर्थात् पर से हरण नहीं हो सकता (अन्य से नहीं ले जाया जा सकता) सो अलिंगग्रहण है। इसप्रकार **आत्मा के ज्ञान का हरण नहीं किया जा सकता** — ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। **सारांश** - कोई उपयोगरूप धन का हरण (चोरी) नहीं कर सकता। पर से जिसका घात न हो, स्वस्वभाव से

जो च्युत न हो, स्व का आश्रय छोड़े नहीं और पर का आश्रय लेवे नहीं, यही उपयोग का स्वरूप है।

**१०. टीकार्थ**— जिसे लिंग में अर्थात् उपयोग नामक लक्षण में ग्रहण अर्थात् सूर्य की भांति उपरण (मलिनता, विकार) नहीं है, वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार **आत्मा शुद्धोपयोगस्वभावी है** — ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। **सारांश** - त्रिकाली द्रव्य व गुण की शुद्धता की भांति ज्ञान की पर्याय भी शुद्ध है, उसमें मलिनता नहीं है। स्वोन्मुखी उपयोग — शुद्धोपयोग में विकार मलिनता नहीं है। अशुद्धोपयोग को उपयोग ही नहीं कहते।

**११. टीकार्थ**— लिंग द्वारा अर्थात् उपयोग नामक लक्षण द्वारा ग्रहण अर्थात् पौद्गालिक कर्म का ग्रहण जिसके नहीं है, वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार **आत्मा द्रव्यकर्म से असंयुक्त (असंबद्ध) है** — ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। **सारांश** - उपयोग द्रव्यकर्म को ग्रहण नहीं करता है, क्योंकि उसमें मलिनता नहीं है। शुद्धोपयोग को जड़कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध भी नहीं है।

**१२. टीकार्थ**— जिसे लिंग के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण अर्थात् विषयों का उपभोग नहीं है, सो अलिंगग्रहण है। इस प्रकार **आत्मा विषयों का उपभोक्ता नहीं है** — ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। **सारांश** - आत्मा स्व-स्वरूप का भोक्ता है। इन्द्रिय विषयों का आत्मा में अभाव है, उनको वह कैसे भोगे ? आत्मा पर विषयों का नहीं परन्तु अपने ज्ञान, दर्शन, वीर्य, आनंद और शांति आदि का उपभोक्ता है।

**१३. टीकार्थ**— लिंग द्वारा अर्थात् मन अथवा इन्द्रियादि लक्षण के द्वारा ग्रहण अर्थात् जीवतत्व को धारण कर रखना जिसके नहीं है, वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार **आत्मा शुक्र और आर्तव का अनुविधायी (अनुसर होनेवाला) नहीं है** — ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। **सारांश** - आत्मा जड़ द्रव्यप्राणों से जीवित नहीं रहता है। आत्मा चेतन्य भावप्राण से जीवित रहता है। आत्मा का जीवत्व धारणकर रखना द्रव्यप्राणों का अथवा माता-पिता के रज-वीर्य का अनुविधायी नहीं है।

१४. टीकार्थ—लिंग का अर्थात् मेहनाकार का (पुरुषादि की इन्द्रिय के आकार का) ग्रहण जिसके नहीं है, सो अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा लौकिक साधनमात्र नहीं है — ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। सारांश— आत्मा मेहनाकार को (पुरुष, स्त्री नपुंसक की जड़ इन्द्रियों के आकार को) ग्रहण नहीं करता है। आत्मा (सन्तानोत्पत्ति का) लौकिक साधनमात्र नहीं है। आत्मा तो वीतरागी पर्याय प्राट करने में लोकोत्तर साधन है।

१५. टीकार्थ—लिंग के द्वारा अर्थात् अमेहनाकार के द्वारा जिसका ग्रहण अर्थात् लोक में व्यापकत्व नहीं है, सो अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा पाखंडियों के प्रसिद्ध साधनरूप आकारवाला-लोकव्याप्तिवाला नहीं है — ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। सारांश— प्रत्येक आत्मा अपने स्वक्षेत्ररूप असंख्य प्रदेशों में रहता है।

१६. टीकार्थ—जिसके लिंगों का अर्थात् स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेदों का ग्रहण नहीं है, वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा द्रव्य से तथा भाव से स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक नहीं है — ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। सारांश— द्रव्यवेद- नोर्कर्म जड़ शरीर की रचना है, वह अजीवतत्व है। भाववेद- पर शरीर को स्पर्श करने का, भोगने का भाव पापभाव है। द्रव्य तथा भाववेद का आत्मस्वभाव में अभाव है।

१७. टीकार्थ—लिंगों का अर्थात् धर्मेन्द्रियों का ग्रहण जिसके नहीं है, वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा के बहिरंग यतिलिंगों का अभाव है — इस अर्थ की प्राप्ति होती है। सारांश— जब अंतर में निर्ग्रथ दशा प्राट होती है, तब बाहर में शरीर की नम दिगम्बर दशा ही होती है तथा संयम-शौच के उपकरण मयूरपिच्छि और कमंडलु मात्र होते हैं, परन्तु उनका आत्मा में अभाव है।

१८. टीकार्थ—लिंग अर्थात् गुण ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध (पदार्थज्ञान) जिसके नहीं है, सो अलिंगग्रहण है। इस प्रकार आत्मा

गुणविशेष से आलिंगित न होनेवाला ऐसा शुद्ध द्रव्य है — ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। सारांश— अभेद आत्मा (सामान्य) गुणभेद (विशेष) का स्पर्श नहीं करता।

१९. टीकार्थ—लिंग अर्थात् पर्याय ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोधविशेष जिसके नहीं है, सो अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा पर्याय विशेष से आलिंगित न होने वाला ऐसा शुद्ध द्रव्य है — ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। सारांश— नित्य आत्मा अनित्य पर्याय का स्पर्श नहीं करता।

२०. टीकार्थ—लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध सामान्य जिसके नहीं है, वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा द्रव्य से नहीं आलिंगित ऐसी शुद्ध पर्याय है — ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। सारांश— शुद्ध पर्याय की अनुभूति ही आत्मा है। शुद्ध पर्याय एक स्वतंत्र अनित्य सत् अहेतुक है, वह ध्रुव सामान्य को स्पर्श नहीं करती। वेदन — जानना पर्याय में ही होता है, शक्तिरूप त्रिकाली सामान्य में नहीं। पर्याय में जब स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से आत्मा का जानना हुआ — अनुभव हुआ, तब उस शुद्ध पर्याय को (अनुभव को) आत्मा कहा।

— प्रस्तुति : ब्र. पं. हेमचन्द्र जैन 'हेम', देवलात्मी

એક બીજાને કોઈ સંબંધ નથી. આવા આ વિશ્વમાં કોઈ એક જીવદ્રવ્ય (હું) જ્ઞાતા છું. મારો જ્ઞાનસ્વભાવ વિશિષ્ટ છે. જે પોતામાં રહીને પોતાને તથા સમસ્ત વિશ્વને—છ દ્રવ્યને પ્રકાશે છે. હું તેનાથી ભિન્ન વિશ્વના ઉપર તરતું સત્તમ દ્રવ્ય છું.

(આધાર : શ્રી સમ્યગ્જ્ઞાન દીપિકા)

મારાથી ભિન્ન રહેલ દ્રવ્યો સાથે મારે સહજ જ્ઞેયજ્ઞાયક લક્ષણ સંબંધ જ છે તેથી તે જ્ઞેય છે અને વ્યક્ત છે. પોતાથી વિમુખ તથા પરની સન્મુખ થઈને જાણવાવાળું જ્ઞાન પણ પરજ્ઞેય છે. વળી જે જ્ઞાનપર્યાયમાં સમસ્ત જ્ઞેયોનું જ્ઞાન થાય છે એ પર્યાયરૂપે પણ નહીં થતો હોવાથી હું તેનાથી ભિન્ન અવ્યક્ત દ્રવ્ય છું—આમ જાણ એમ આચાર્ય કહે છે.

બોલ-૨ : કષાયોનો સમૂહ ભાવક-ભાવ વ્યક્ત છે તેનાથી જીવ અન્ય છે :—સારાંશ : પ્રથમ બોલમાં પરદ્રવ્યોથી ભિન્ન કરાવી હવે પોતાની પર્યાયમાં થતાં પરલક્ષી ભાવો—મોહ રાગ દ્વેષથી ભિન્નતા કરાવે છે. કષાયના ભાવો ચૈતન્યમય ભાવો નથી. પરંતુ દ્રવ્યકર્મરૂપી ભાવકમાં ઉદય થતાં રસના સંગે થતાં હોવાથી તે ભાવકના ભાવ છે, ચૈતન્યસ્વરૂપી મારા અસ્તિત્વથી ભિન્ન છે. જ્યાં સુધી જીવ પોતાના સ્વભાવને પરિપૂર્ણપણે અનુભવતો નથી, ત્યાં સુધી રાગાદિ પોતાની દશામાં રહે છે, પછી નીકળી જાય છે. માટે ચૈતન્યમય પરિણામ નથી પરંતુ કર્મના સંગે થતાં કર્મના પરિણામ છે.

આ રીતે રાગાદિ ભાવો જીવની પર્યાયમાં થતાં હોવાથી ત્રિદ્વિકારો હોવા છતાં શુદ્ધ ચૈતન્યસ્વભાવની દૃષ્ટિ કરાવવા તે ભાવોને શ્રી સમયસારના જીવ-અજીવ અધિકારમાં અજીવ-

## 6. શ્રી સમયસારજી—અવ્યક્તના છ બોલ

અવ્યક્ત શુદ્ધાત્મા

શ્રી સમયસારજીની ગાથા ૪૯માં એવો પ્રશ્ન ઉઠ્યો છે કે અધ્યવસાનાદિ ભાવો છે તે જીવ નથી તો તે એક ટંકોકીર્ણ, પરમાર્થ જીવ કેવો છે? એ પ્રશ્નના ઉત્તરમાં ભગવાન હુંદહુંદાચાર્યદેવ કહે છે કે આત્માને ‘અવ્યક્ત’ જાણ.

દીકાકાર ભગવાન અમૃતઆચાર્યદેવે અવ્યક્તને છ બોલથી સમજાવ્યો છે—જેમાં પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીને ઘણી ગંભીરતા લાગી અને તેનો દરરોજ સ્વાધ્યાય કરતા. પ્રવચનમાં તેને ખૂબ વિસ્તારથી સમજાવ્યા ત્યારે આપણે કોઈક સમજી શકીએ છીએ—એ જ્ઞાનીઓનો જ પરમ ઉપકાર છે.

આત્મા વ્યક્ત અને પ્રગટ હોવા છતાં અજ્ઞાનીની દૃષ્ટિ અનાદિથી પરદ્રવ્યો અને પરભાવો ઉપર જ હોવાથી તેને અહીં વ્યક્ત કહ્યા છે અને દૃષ્ટિના વિષયભૂત આત્માને જાણ્યો નહીં હોવાથી અવ્યક્ત કહીને સમજાવ્યો છે.

બોલ-૧ : છ દ્રવ્યસ્વરૂપ લોક જે જ્ઞેય છે અને વ્યક્ત છે તેનાથી જીવ અન્ય છે માટે અવ્યક્ત છે :— સારાંશ : અનંત આકાશના મધ્યમાં સમુદ્રમાં ભિંદુની જેમ માત્ર ૩૪૩ ઘનરાજીમાં પુરુષાકારે લોક છે, જેમાં છ દ્રવ્ય રહે છે. જીવ અનંત છે. પુદ્ગલ પરમાણુ અનંતાનંત છે.

દરેક દ્રવ્ય સ્વતંત્ર છે. પોત પોતાના અસ્તિત્વમાં—સ્વ દ્રવ્ય ક્ષેત્ર કાળ ભાવમાં—સ્વ દ્રવ્ય ગુણ પર્યાયમાં રહેલ છે. અત્યંત એકક્ષેત્રાવગાહે રહ્યા હોવા છતાં એકબીજાને સ્પર્શતા પણ નથી.

પુદ્ગલ, પુષ્પ-પાપ અધિકારમાં અજ્ઞાન તથા સંવર અધિકારમાં જરૂર કહ્યા છે—તે ભાવોથી ભિન્ન હું અવ્યક્ત દ્રવ્ય છું.

બોલ-૩ : ચિત્ત સામાન્યમાં ચૈતન્યની સર્વ વ્યક્તિઓ

નિમગ્ન છે :—સારાંશ : પ્રથમ બે બોલમાં પરદ્રવ્યો અને પરભાવોથી ભેદજ્ઞાન કરાવી ઉત્તરોત્તર સૂક્ષ્મમાં લઈ જઈ સ્વભાવ સન્મુખ કરાવે છે.

અનાદિથી અત્યારસુધી મારામાં જેટલી પર્યાયો— દ્રવ્ય પર્યાયો તથા ગુણપર્યાયો—પ્રગટ થઈને વ્યય થઈ ગઈ તે બધી ત્રિકાળી દ્રવ્યમાં ભૂતકાળની યોગ્યતારૂપે નિમગ્ન છે. હવે પછી પ્રગટ થવાવાળી અનંત પર્યાયો ભવિષ્યની યોગ્યતારૂપે ક્રમબદ્ધ નિમગ્ન છે. વર્તમાન પર્યાય પ્રગટ છે તે આવા દ્રવ્યનો નિર્ણય કરે છે.

કાળના પ્રવાહ અનુસાર ભાવિની યોગ્યતાવાળી પર્યાયો સ્વકાળે દ્રવ્યમાંથી પ્રગટ થતી જાય છે અને બીજા સમયે વ્યય થઈને દ્રવ્યમાં ભૂતકાળની યોગ્યતારૂપે જતી જાય છે. આવી રીતે દ્રવ્યમાંથી પર્યાય આવે છે અને જાય છે એમ કહેવું તે વ્યવહાર છે.

ભવ્ય જીવોમાં-મારામાં-ભવિષ્યમાં પ્રગટ થવાવાળી અરિહંત તથા સિદ્ધની અનંતી પર્યાયો નિમગ્ન છે, જે દોડતો આયાતસામાન્યસમુદાય પ્રગટ થવા માટે ઉલ્લસી રહ્યો છે માટે એ રૂપે પોતાને ધ્યાવતું તે જૂઠું નથી પરંતુ ધ્યાવવા યોગ્ય છે.

(શ્રી તત્વાનુશાસન ગાથા-૧૯૨)

ઉપરોક્ત ભૂત તથા ભવિષ્યની વર્તમાનમાં અક્રમે રહેલી નિમગ્ન પર્યાયોને દ્રવ્યાંતરની અપેક્ષા વગરની સ્વાભાવિક દ્રવ્યજ પર્યાય કહેવાય છે—જે પારિશામિકભાવરૂપે હોય છે. તદ્અનુસાર

વ્યક્ત થવાવાળી ઉત્પાદ-વ્યય પર્યાયને દ્રવ્યાંતરની અપેક્ષાવાળી વૈભાવિક પર્યાયો કહેવાય છે—જે ઔદયિક આદિ ચાર ભાવરૂપે હોય છે.

બોલ-૪ : ક્ષણિક વ્યક્તિ માત્ર નથી :— સારાંશ : ત્રીજા

બોલમાં કલ્પું કે ભૂતકાળ તથા ભવિષ્યકાળની અનંતી પર્યાયો વર્તમાન વર્તતા દ્રવ્યમાં નિમગ્ન છે. આવા મહિમાવંત દ્રવ્યનો જ્યારે નિર્ણય થાય છે ત્યારે વર્તમાનમાં પ્રગટ થયેલી એક પર્યાયની દૃષ્ટિ છૂટી જાય છે, ભાવમાં સહેજે એમ ભાસે છે કે ક્ષણિક વ્યક્તિમાત્ર હું નથી.

ચૈતન્યના નુરનું પૂર, આનંદનો કંદ એવો આત્મા દ્રવ્યદૃષ્ટિએ તો અપરિણમનસ્વરૂપ છે. પરદ્રવ્યો તો દ્રવ્યમાં પ્રવેશતા નથી, પરના સંગે પ્રગટ થતાં રાગાદિ ભાવો, જેને બીજા બોલમાં ભાવકભાવ કહ્યા, તે પણ પ્રવેશતા નથી. અરે! શુદ્ધાત્મદ્રવ્યના અવલંબનથી પ્રગટતી શુદ્ધ પર્યાયો પણ ઉત્પાદવ્યય સ્વભાવવાળી હોવાથી ધ્રુવ સ્વભાવમાં ઉત્પન્ન થતી નથી, એવો ટંકોત્કીર્ણ ચૈતન્ય બિમ્બ હું છું.

દ્રવ્ય સત્ તથા પર્યાય સત્ (કથંચિત્) ભિન્ન છે. સ્વતંત્ર ષટ્કારકથી ઉત્પન્ન થતી ક્ષણિક પર્યાયરૂપે હું થતો નથી માટે અવ્યક્ત છું.

બોલ-૫ : વ્યક્તપણું તથા અવ્યક્તપણું ભેદનાં નિશ્ચિતરૂપે

તેને પ્રતિભાસવા છતાં પણ તે વ્યક્તપણાને સ્પર્શતો નથી :— સારાંશ : આત્માનું જ્ઞાન આત્મદ્રવ્યના બંને અંશો-અપરિણામી દ્રવ્ય (અવ્યક્ત) તથા પર્યાય (વ્યક્ત)-ને જેમ છે તેમ જાણે છે. કેવી રીતે જાણે છે? દ્રવ્ય પર્યાયથી કથંચિત્ ભિન્ન છે તથા કથંચિત્ અભિન્ન છે એટલે કે ભેદનાં નિશ્ચિતરૂપે છે એમ જાણે છે. જ્ઞાનનો

સ્વભાવ અનેકાંતિક હોવાથી જ્ઞાન આત્મદ્રવ્યના કોઈપણ એક જ અંશને અથવા બન્ને અંશોને કોઈ પણ એક જ અપેક્ષાથી જાણે તો તે એકાંત છે—મિથ્યાજ્ઞાન છે.

આ રીતે જ્ઞાનમાં અનેકાંતપણું હોવા છતાં દૃષ્ટિનો સ્વભાવ એકાંતિક હોવાથી એકલા દ્રવ્યને જ સ્વીકારે છે અને જ્ઞાન તે જ સ્વભાવને મુખ્યપણે—ઉપાદેયપણે જાણતું હોવાના કારણથી દ્રવ્ય પર્યાયને સ્પર્શતું નથી.

પ્રમાણજ્ઞાનના વિષયભૂત આત્મદ્રવ્યની મહાસતતા એક હોવા છતાં નયોના વિષયભૂત દ્રવ્ય તથા પર્યાયરૂપ અંશોની અવાંતરસતતા ભિન્ન હોવાથી તેઓના દ્રવ્ય ક્ષેત્ર કાળ ભાવ પણ ભિન્ન છે તેમ જોઈ શકાય છે. આ રીતે જેમાં અહંપણું સ્થાપવાનું છે તેવું અપરિણામી—દૃષ્ટિના વિષયભૂત દ્રવ્ય, તેને જાણવાવાળી પર્યાયને પણ સ્પર્શતું નથી—એવું અવ્યક્ત દ્રવ્ય હું છે.

(શ્રી પંચાસ્તિકાપચંચાહ ગાથા-૮)

બોલ—૬ : પોતે પોતાથી જ બાહ્ય-અભ્યંતર સ્પષ્ટ અનુભવાઈ રહ્યો હોવા છતાં પણ વ્યક્તપણા પ્રતિ ઉદાસીનપણે પ્રદ્યોતમાન છે :— સારાંશ : ત્રીજા, ચોથા બોલમાં દૃષ્ટિની મુખ્યતાથી વાત હતી. પાંચમાં બોલમાં જ્ઞાનના સ્વભાવની વાત હતી. અહીં બાહ્ય એટલે પર્યાય અને અભ્યંતર એટલે દ્રવ્યના અનુભવની એટલે કે ચારિત્રના સ્વભાવની વાત છે.

જ્યારે આત્મા આત્માને અનુભવે છે ત્યારે દ્રવ્ય ઉપર દૃષ્ટિ હોવાથી દ્રવ્યનો અનુભવ છે એમ પણ કહેવાય પરંતુ ખરેખર પર્યાયનું જ વેદન હોવાથી પર્યાયનો અનુભવ છે. આ રીતે પર્યાયમાં અનાદિકાળથી નહીં આવેલ અતિન્દ્રિય આનંદનો આસ્વાદ આવતો હોવા છતાં જેમાંથી આવી અનંતપર્યાયો આવતી

જ જાય છે એવા અનંતગુણા મહિમાવંત દ્રવ્યસ્વભાવ ઉપર દૃષ્ટિ હોવાથી વ્યક્તપણા પ્રત્યે ઉદાસીનપણું રહે છે અને દ્રવ્યનો મહિમા છૂટતો નથી.

બીજું દ્રવ્યનો મહિમા ન છૂટવાનું કારણ તેમાં રહેલ અનંત શક્તિઓ તથા તેની સાથેની પૂજિત પંચમભાવની પરિણતિ-કારણશુદ્ધપર્યાય-છે, જેના કારણથી દ્રવ્યનું પરિપૂર્ણપણું ભાસે છે. ધ્રુવમાં ધ્રુવનો પ્રતિભાસ, ધ્રુવમાં ધ્રુવનો ભોગવટો-અભ્યંતર અનુભવ વર્તી રહ્યો છે. આ રીતે અનુભૂતિસ્વરૂપ ભગવાન આત્માનો મહિમા ભાસતા બાહ્ય-વ્યક્ત અનુભવ પ્રત્યે પણ સહેજે ઉદાસીનપણું રહે છે.

(શ્રી નિયમસાર ગાથા-૧૧, ૯૭)

આ રીતે અવ્યક્તના બોલમાં દૃષ્ટિપ્રધાન દૃષ્ટિનો વિષય પરમ પરિણામિકભાવનું સ્વરૂપ બતાવ્યું છે.

જ્ઞાનપ્રધાન સમ્યગ્દર્શનના વિષયનું સ્વરૂપ અલગ છે. ત્યાં તો સમસ્ત જ્ઞેય જેમાં જણાય છે તેવું પોતાનું ‘જાતૃતત્ત્વ’ તથા તેમાં જણાતાં સમસ્ત ‘જ્ઞેયતત્ત્વ’નું જેમ છે તેમ યથાર્થ શ્રદ્ધાન તેને સમ્યગ્દર્શન કહે છે.

(શ્રી પ્રવચનસાર ગાથા ૨૪૨)

પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીએ સમજાવેલ અવ્યક્ત સ્વભાવનો અનુભવ કરી સ્વરૂપમાં જ સમાઈ જઈએ તે જ ભાવના.

— પ્રસ્તુતિ : ખરતખાઈ પ્રેટ, રાજકોટ

શ્રીમદ્ રાજચંદ્રજ્ઞના

### સ્વદેવ્ય-પરદેવ્યના 10 બોલોનો સારાંશ

**સ્વદેવ્યની વ્યાખ્યા :** ભગવાન આત્મા, એકલો ત્રિકાળી સ્વભાવ, જ્ઞાન આનંદદિ અનંત ગુણોનો પ્રિડ — એને સ્વદેવ્ય કહીએ. એ ચૈતન્ય ચમત્કાર વસ્તુ છે. નિર્મળાનંદ પ્રભુ જ્ઞાનરસ-આનંદરસ-શાંતરસનો પ્રિડ-કંદ પ્રભુ છે.

**પરદેવ્યની વ્યાખ્યા :** સ્વદેવ્યથી ભિન્ન લોકમાં જે છ દેવો છે તે - બીજા અનંત આત્માઓ, અનંતાનંત પુદ્ગલ પરમાણુઓ, ધર્મદેવ્ય, અધર્મદેવ્ય, આકાશ અને કાળ, નોકર્મ - શરીરાદિ પુદ્ગલ પરમાણુઓનો જથથો, દેવકર્મ અને ભાવકર્મ અર્થાત શુભાશુભભાવો જેમને પણ પુદ્ગલના પરિણામ કહ્યાં છે. તેથી તારા માટે એ બધા પરદેવ્ય છે.

#### બોલ નંબર-1 સ્વદેવ્ય અન્ય દેવ્ય ભિન્ન-ભિન્ન જુઓ :

જે સ્વદેવ્યથી તદ્દન ભિન્ન છે, પોતાના દેવ્ય-ગુણ-પર્યાયમાં પ્રતિષ્ઠિત છે. તેમને એ રીતે જો, એ રીતે જાણ, એ રીતે માન, એવી અનુભવ કર! જુઓ, આ ભેદજ્ઞાનની પરાકાષ્ટની વાત છે. એ ભેદજ્ઞાનની પ્રક્રિયા તું શરૂ કર- અનાદિથી પરમાં જે (1) એકવબુદ્ધિ, (2) મમત્વબુદ્ધિ, (3) કર્તવ્યબુદ્ધિ, (4) ભોક્તાબુદ્ધિ, (5) સુખબુદ્ધિ માની બેઠો છે, તે મિથ્યાત્વનો અભાવ કરવાનો આ ઉપદેશ છે.

દેહથી ભિન્ન, ચોખ્ખાદિથી ભિન્ન, નિમિત્તથી ભિન્ન, એક સામયની પર્યાયથી ભિન્ન, ગુણભેદથી ભિન્ન - સમ્યક્એકાંતરૂપ, આનંદ કંદ પ્રભુ, અપરિમિત શક્તિઓનો ભંડાર ભગવાન આત્મા - એની દષ્ટિ, લક્ષ નિર્ણય, એકાગ્રતા કરતાં ત્રિકાળીનો અંતરમાં અનુભવ થાય છે. મોક્ષમાર્ગની પ્રથમ સીડી એવા સમ્યાગદર્શનને ખરાટ કરવાની આ સચોટ વિધિ છે.

**બોલ નંબર-૨ : સ્વદેવ્યના રક્ષક ત્વરાથી થાઓ :** જેવી પૂર્ણાનંદ વસ્તુ (સ્વદેવ્ય) છે એનું જ્ઞાન કરીને અંદરમાં એની નિર્વિકલ્પ પ્રતીતિ કરનાર સ્વદેવ્યનો રક્ષક છે.

**બોલ નંબર-૩ : સ્વદેવ્યના વ્યાપક ત્વરાથી થાઓ :** જ્યાં પોતાની સત્તા નથી એવા પુણ્ય-પાપના ભાવોમાં જે અનાદિથી વ્યાપેલો છે, ત્યાંથી ખસીને નિજસ્વરૂપમાં વ્યાપનાર તે સ્વદેવ્યનો વ્યાપક છે.

**બોલ નંબર-૪ :** સ્વદેવ્યના ધારક ત્વરાથી થાઓ : “હું આ છું” - એમ સ્વદેવ્ય તરફ લેણનાર, તેને પોતાની જ્ઞાન પર્યાયમાં ધારનાર તે સ્વદેવ્યનો ધારક છે.

**બોલ નંબર-૫ :** સ્વદેવ્યના રમક ત્વરાથી થાઓ : પોતાના સ્વભાવને સ્પર્શીને એમાં રમણતા કરનાર સ્વદેવ્યનો રમક છે.

**બોલ નંબર-૬ :** સ્વદેવ્યના ગ્રાહક ત્વરાથી થાઓ : ત્રિકાળી ધ્રુવ નિજ ભગવાન આત્માને પ્રહણ કરનાર સ્વદેવ્યનો ગ્રાહક છે.

**બોલ નંબર-૭ :** સ્વદેવ્યની રક્ષકતા પર લક્ષ રાખો : પહેલાં જ્ઞાનમાં અને પછી શ્રદ્ધામાં સ્વદેવ્યની રક્ષકતા ઉપર લક્ષ દો. એમાં એકાગ્રતા કરીને એનો અનુભવ કરો.

**બોલ નંબર-૮ :** પરદેવ્યની ધારકતા ત્વરાથી તજો.

**બોલ નંબર-૯ :** પરદેવ્યની રમણતા ત્વરાથી તજો.

**બોલ નંબર-10 :** પરદેવ્યની ગ્રાહકતા ત્વરાથી તજો.

ઉપરના ત્રણ બોલમાં પરદેવ્યથી વિરક્ત થવાનું કહીને મિથ્યાત્વના ત્યાગની વાત કરી છે. પરદેવ્યમાં જે સર્વસ્વ મનાઈ રહ્યું છે તેનો ત્યાગ કરવાનો બોધ આપ્યો છે.

#### “ત્વરાથી તજો”

આ બધા બોલમાં “ત્વરા” શબ્દ વાપર્યો છે, તે બહુ અગત્યનો છે. ભાઈ! હવે બહુ મોડું થઈ ગયું છે. અનંત અનંત નરકનિબોદના ભવ કરી અનંત દુઃખો તે ભોગવ્યાં છે. તેમાં કોઈ મહાન પુણ્યના ઉદયથી અને તારી યોગ્યતાથી આવી મહાદુર્લભ મનુષ્યભવ મળ્યો - આવી વીતરાગની વાણી મળી, તેથી તું ખૂબ જલદી બધાથી નિવૃત્તિ લઈને તારા ઉપયોગને સ્વમાં ભમાવ! ધીરજ અને ધોરજથી આ મનુષ્યભવમાં જો એક કર્ય કરવા જેવું હોય તો આ સ્વાનુભૂતિ પ્રાપ્ત કરવા જેવી છે. કરીથી આવી આવસર નહીં આવે. સ્વાનુભૂતિની આ કળા વિકસાવવા જેવી છે.

આમ અહીં પ્રબળ પુરુષાર્થની પ્રેરણા આપી છે.

- પરસ્પૃતિ : શ્રી રમણિકભાઈ સાવલા, દેવલાલી

## 8. चौबीस तीर्थंकर स्तवन

जो अनादि से व्यक्त नहीं था त्रैकालिक ध्रुव ज्ञायक भाव ।  
वह युगादि में किया प्रकाशित वन्दन ऋषभ जिनेश्वर राव ॥१॥  
जिसने जीत लिया त्रिभुवन को मोह शत्रु वह प्रबल महान ।  
उसे जीतकर शिवपद पाया वन्दन अजितनाथ भगवान ॥२॥  
काललाब्धि बिन सदा असम्भव निज सन्मुखता का पुरुषार्थ ।  
निर्मल परिणति के स्वकाल में सम्भव जिनने पाया अर्थ ॥३॥  
त्रिभुवन जिनके चरणों का अभिनंदन करता तीनों काल ।  
वे स्वभाव का अभिनन्दन कर पहुँचे शिवपुर में तत्काल ॥४॥  
निज आश्रय से ही सुख होता यही सुमति जिन बतलाते ।  
सुमतिनाथ प्रभु की पूजन कर भव्यजीव शिवसुख पाते ॥५॥  
पद्मप्रभ के पद-पंकज की सौरभ से सुरभित त्रिभुवन ।  
गुण अनन्त के सुमनों से शोभित श्री जिनवर का उपवन ॥६॥  
श्री सुपार्श्व के शुभ सु-पार्श्व में जिनकी परिणति करे विराम ।  
वे पाते हैं गुण अनन्त से भूषित सिद्ध सदन अभिराम ॥७॥  
चारु चन्द्रसम सदा सुशीतल चेतन चन्द्रप्रभ जिनराज ।  
गुण अनन्त की कला विभूषित प्रभु ने पाया निजपद राज ॥८॥  
पुष्पदन्त सम गुण आवलि से सदा सुशोभित हैं भगवान ।  
मोक्षमार्ग की सुविधि बताकर भविजन का करते कल्याण ॥९॥  
चन्द्रकिरण सम शीतल वचनों से हरते जग का आताप ।  
स्याद्वादमय दिव्यध्वनि से मोक्षमार्ग बतलाते आप ॥१०॥  
त्रिभुवन के श्रेयस्कर हैं श्रेयांसनाथ जिनवर गुणखान ।  
निज-स्वभाव ही परम श्रेय का केन्द्र बिन्दु कहते भगवान ॥११॥  
शत इन्द्रों से पूजित जग में वासुपूज्य जिनराज महान ।  
स्वाश्रित परिणति द्वारा पूजित पञ्चमभाव गुणों की खान ॥१२॥

## गुरु चिंतन

निर्मल भावों से भूषित है जिनवर विमलनाथ भगवान ।  
राग-द्वेष मल का क्षय करके पाया सौख्य अनन्त महान ॥१३॥  
गुण अनन्तपति की महिमा से मोहित है यह त्रिभुवन आज ।  
जिन अनन्त को वन्दन करके पाऊँ शिवपुर का साम्राज्य ॥१४॥  
वस्तुस्वभाव धर्मधारक हैं धर्म धुरन्धर नाथ महान ।  
ध्रुव की धुनमय धर्म प्रगट कर वन्दित धर्मनाथ भगवान ॥१५॥  
रागरूप अंगारों द्वारा दहक रहा जग का परिणाम ।  
किंतु शांतिमय निजपरिणति से शोभित शांतिनाथ भगवान ॥१६॥  
कुन्धु आदि जीवों की भी रक्षा का देते जो उपदेश ।  
स्व-चतुष्टय में सदा सुरक्षित कुन्धुनाथ जिनवर परमेश ॥१७॥  
पंचेन्द्रिय विषयों से सुख की अभिलाषा है जिनकी अस्त ।  
धन्य-धन्य अरनाथ जिनेश्वर राग-द्वेष अरि किए परास्त ॥१८॥  
मोह-मल्ल पर विजय प्राप्त कर जो हैं त्रिभुवन में विख्यात ।  
मल्लिनाथ जिन समवशरण में सदा सुशोभित हैं दिन-रात ॥१९॥  
तीन कषाय चौकड़ी जयकर मुनि-सु-व्रत के धारी हैं ।  
वन्दन जिनवर मुनिमुव्रत जो भविजन को हितकारी हैं ॥२०॥  
नामि जिनवर ने निज में नमकर पाया केवलज्ञान महान ।  
मन-वच-तन से करूँ नमन सर्वज्ञ जिनेश्वर हैं गुणखान ॥२१॥  
धर्मधुरा के धारक जिनवर धर्मतीर्थ रथ संचालक ।  
नेमिनाथ जिनराज वचन नित भव्यजनों के हैं पालक ॥२२॥  
जो शरणागत भव्यजनों को कर लेते हैं आप समान ।  
ऐसे अनुपम अद्वितीय पारस हैं पार्श्वनाथ भगवान ॥२३॥  
महावीर सन्मति के धारक वीर और अतिवीर महान ।  
चरण-कमल का अभिनन्दन है वन्दन वर्धमान भगवान ॥२४॥

### 9. पंच-बालयति वन्दना

(दीहा)

पंच बालयति नित बसो, मेरे हृदय मँझार।  
जिनके उर में बस रहा, प्रिय चैतन्य कुमार ॥

(वीरछन्द)

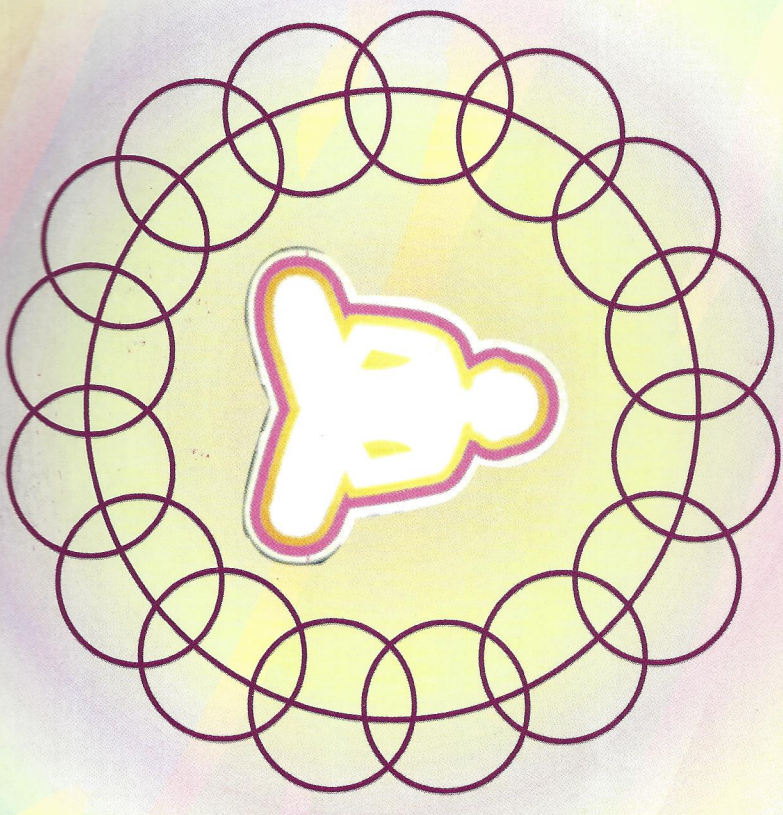
**धन्य-धन्य हे वासुपूज्य जिन !** गुण अनन्त में करो निवास,  
निज आश्रित परिणति में शाश्वत महक रही चैतन्य-सुवास।  
सत् सामान्य सदा लखते हो क्षायिक दर्शन से अविराम,  
तेरे दर्शन से निज दर्शन पाकर हर्षित हूँ गुणखान ॥  
मोह-मल्ल पर विजय प्राप्त कर **महाबली हे मल्लि जिनेश!**,  
निज गुण-परिणति में शोभित हो शाश्वत मल्लिनाथ परमेश।  
प्रतिपल लोकालोक निरखते केवलज्ञान स्वरूप चिदेश,  
विकसित हो चित् लोक हमारा तब किरणों से सदा दिनेश ॥  
**राजमती तज नेमि जिनेश्वर !** शाश्वत सुख में लीन सदा,  
भोक्ता-भोग्य विकल्प विलयकर निज में निज का भोग सदा।  
मोह रहित निर्मल परिणति में करते प्रभुवर सदा विराम,  
गुण अनन्त का स्वाद तुम्हारे सुख में बसता है अविराम ॥  
आत्म-पराक्रम निरख आपका कमठ शत्रु भी हुआ परास्त,  
क्षायिक श्रेणी आरोहण कर मोह शत्रु को किया विनष्ट।  
**पार्श्वबिम्ब** के चरण युगल में क्यों बसता यह सर्प कहो ?,  
बल अनन्त लखकर जिनवर का चूर कर्म का दर्प अहो ॥  
क्षायिक दर्शन ज्ञान वीर्य से शोभित हो सन्मति भगवान !,  
भारतक्षेत्र के शासन नायक अन्तिम तीर्थंकर सुखखान।  
विश्व सरोज प्रकाशक जिनवर हो केवल-मार्तण्ड महान,  
अर्घ्य समर्पित चरण-कमल में वन्दन वर्धमान भगवान ॥



Blank lined writing area on the top page of the notebook.

Blank lined writing area on the bottom page of the notebook.

“अखिल विश्व मुमुक्षु परिवार”



Unity is Divinity

“एकत्व ही औन्नत्य है।”